अमर ग्रन्थ सत्यार्थप्रकाश के रचयिता

युग प्रवर्तक महर्षि दयानन्द

विषयानुक्रम

क्रम	विषय	लेखक	पृष्ठ
.	सत्यार्थ प्रकाश (कविता)	डा० हरिशंकर	
१.	ध्यान दीजिए !	महर्षि दयानन्द सरस्वती	
३.	सम्पादकीय		
४.	अपनी बात		
	ध्वजा न झुकने देंगे (कविता)	श्रीमती राकेश रानी	
	सत्यार्थ प्रकाश क्यों ?	पं० रघुवीरसिंह शास्त्री	
	ईश्वर के अनेक नाम	पं० हरिशरण 'सिद्धान्तालंकार'	१७
८.	महर्षि दयानन्द के शिक्षा-संबंधी मौलिक विचार	आचार्य श्री पं० प्रियव्रत 'वेदवाचस्पति'	२९
९	अध्ययन और अध्यापन की ऋषि निर्दिष्ट विधि	स्वामी समर्पणानन्द सरस्वती	३७
०.	गृहस्थ आश्रम की सफलता के उपाय	प्रोफेसर रामसिंह एम० ए०	४९
१.	वानप्रस्थ और सन्यासाश्रम	स्वामी अखिलानन्द सरस्वती	६१
२.	राज्य व्यवस्था की वैदिक प्रणाली	पं० रामगोपाल शास्त्री	७३
३.	राजधर्म	प्रो० रणजीतसिंह एम० ए०	८०
४.	ईश्वर के स्वरूप का दार्शनिक और वैज्ञानिक विवेचन	पं० क्षितीशकुमार 'वेदालंकार' एम० ए०	८९
५.	सृष्टि उत्पत्ति क्यों और कैसे ?	आचार्य प० उदयवीर शास्त्री	११९
६.	विद्या-अविद्या और बन्ध मोक्ष विषयों की व्याख्या	पं० जगदेवसिंह 'सिद्धान्ती' 'ससत्सदस्य'	१३७
७.	क्या विदेश यात्रा पाप है ?	पंडिता पवित्रादेवी विद्याविभूषिता	१५७
८.	सत्यार्थ (कविता)	श्री चन्द्रमोहन शास्त्री	१६७
९.	हमारा प्रिय ! (कविता)	प० सूर्यदेव शर्मा एम० ए०	१६८
२०.	सत्यार्थ प्रकाश (कविता)	"प्रणव" एम० ए०	१६९
२१.	सत्यार्थ प्रकाश	श्री पूर्णचंद एडवोकेट	१७०
२२.	सत्यार्थप्रकाश की दार्शनिक विशेषताएं	आचार्य श्री वैद्यनाथ शास्त्री	१७२

सत्यार्थ-प्रकाश !

डा० हरिशंकर शर्मा डी० लिट्०

प्राणों से भी बढ़कर प्यारा-
है 'सत्यार्थ-प्रकाश' हमारा।

मोह महातम हरने वाला;
ज्ञान-उजाला करने वाला,
भव्य भावना भरने वाला,
दिव्य ज्योति का स्रोत-सितारा-
है 'सत्यार्थ-प्रकाश' हमारा।१

वैदिक पाठ पढ़ाने वाला;
गत गुण-गौरव गाने वाला,
फिर से सत् युग लाने वाला;
दयानन्द ऋषि का चखतारा-
है 'सत्यार्थप्रकाश' हमारा।२

शुभ सन्मार्ग सुझाया इसने;
बुद्धिवाद उमगाया इसने,
'गुरुडम' का गढ़ ढाया इसने,
जग मे निर्भय भाव प्रचारा-
है 'सत्यार्थ-प्रकाश' हमारा।३

सोता देश जगाया जिसने;
प्रेम-प्रवाह बहाया जिसने,
स्वावलम्ब सिखलाया जिसने,
जिसने सत्य धर्म-विस्तारा-
है 'सत्यार्थप्रकाश' हमारा।४

कोटि-कोटि जनता का जीवन;
अर्पित है इस पर समोद मन,
त्यागी, सुधी, साधुओं का धन,
'मानवता' का सबल सहारा-
है 'सत्यार्थ-प्रकाश' हमारा।५

यदि इस पर संकट आएँगे,
रक्षा-हित हम डट जाएँगे,
मर जाएँगे कट जाएँगे,
मिटा न आगे मिटने हारा-
है 'सत्यार्थ-प्रकाश' हमारा।६

वैदिक धर्म-ध्वजा फहराएँ,
बलि-वेदी पर सीस चढ़ाएँ,
मरते-मरते गाते जाएँ,
अजर-अमर अक्षय ध्रुव-धारा-
है 'सत्यार्थ-प्रकाश' हमारा।७

ोपमाला संवत् २०२०

*

१५ नवम्बर १९६३

*

*

*

संपादक

हरिप्रकाश

—सभामन्त्री

सह—

भारतेन्द्रनाथ

*

वार्षिक मूल्य ८)

*

एक प्रति का

२० नए पैसे

* * *

इस अक का

६० नए पैसे

धन दीजिए

ओ३म् अग्ने त्वन्नो ऽ अन्तम,
त्राता शिवो भवा वरूथ्य : ।
वसुरग्निर्वसुश्रवा ऽ अच्छा
नक्षि द्युमत्तम ७ रयिन्दा ॥

यजु० ३-२५

हे सब की रक्षा करने वाले जगदीश्वर ! जो आप सब को सुनने के लिए श्रेष्ठ कानो को देने, सब प्राणी जिसमे वास करते है वा सब प्राणियो के बीच वसने हारे और विज्ञान प्रकाश युक्त सब जगह व्याप्त अथवा रहने वाले है, सो आप हम लोगो के अन्तर्यामी वा जीवन के हेतु रक्षा करने वाले श्रेष्ठ गुण कर्म और स्वभाव मे होने तथा मगलमय मगल करने वाले हूजिए। और भी हम लोगो के लिए उत्तम प्रकाशो से युक्त विद्या चक्रवर्ती आदि धनो को अच्छी प्रकार दीजिए।

—महर्षि दयानन्द

सब के रक्षक जगदीश्वर हे !

सम्पादकीय

सच्ची श्रद्धांजलि

उनका जीवन, उनके ग्रन्थ, आज भी सभी को राह दिखा रहे हैं। वस्तुतः उनकी बताई राह इतनी तर्क-युक्ति और आदर्शों से पूर्ण है कि कोई भी यदि पक्षपात की दृष्टि छोड़कर निहारे तो उस पर चले बिना न रहे।

युद्ध-अशांति और घृणा से भरे वर्तमान युग को शांति प्राप्ति के लिए महर्षि की बतायी राह अपनानी ही होगी। वह जितना शीघ्र अपनाए उतना ही कल्याण है, किन्तु यह इस बात पर निर्भर करता है कि महर्षि के अनुयायी उनके संदेश प्रचार के लिए कितना तप-त्याग और बलिदान कर सकते हैं।

आज ऋषि-बलिदान के ऐतिहासिक दिन सभी अपना अंतर टटोलें और सोचें कि हम क्या कर रहे हैं उनके लक्ष्य की पूर्ति के लिए।

ऋषि की लक्ष्य-पूर्ति का प्रण ही उनके प्रति
सच्ची श्रद्धांजलि है।

—हरिप्रकाश

दीपमाला-दीप पंक्तियों का उल्लासमय पर्व, जब सारा देश राम के राज्याभिषेक की स्मृति मे हर्ष मनाता है—हमारा राष्ट्रीय पर्व है। किन्तु इसके साथ ही प्रतिवर्ष यह स्मृति दिलाता है उस क्षण की, जब युग प्रवर्त्तक देव दयानन्द का देहावसान हुआ था।

कैसा था वह समय जब महर्षि ने भारत मे कार्यारम्भ किया। अंधकार, अज्ञान, निराशा और परतन्त्रता की जंजीरों से जकड़ा देश-पाखण्डो की रीति-नीति से जर्जर देश कराह रहा था कि देवदूत दयानन्द ने अपनी गम्भीर वाणी के उद्घोष से सभी को जगाना आरम्भ किया। कितनी विचित्र स्थिति थी, स्मरण कर भी रोमांच आता है—तेतीस करोड़ व्यक्ति—साधन सम्पन्न एक ओर और एक कोपीनधारी सन्यासी एक ओर।

सभी ने पूरी शक्ति से दयानन्द को कुचलना चाहा। साम, दाम, दण्ड, भेद से उसकी दिव्य वाणी को दबाना चाहा पर आज तक क्या कभी सत्य झुका है—हारा है या रुका है—वह अजेय था और इसी से कोई भी प्रभु के मार्ग पर चलते ऋषि को झुका नहीं सका।

ऋषि के गुण गान करने की सामर्थ्य हममे कहाँ, उनकी महत्ता, शक्ति, दीप्ति और तेजस्विता ने संसार को एक नया मोड़ दिया, एक नए युग का आरम्भ हुआ और मानवता को नए नेत्र मिले। ससार के इतिहास मे महर्षि दयानन्द एक मात्र ऐसे सुधारक थे जिन्होंने मनुष्य-मनुष्य के मध्य बनी सभी दीवारो को समाप्त करना चाहा।

ऐसे युग पुरुष के देहावसान का दिन, उनके अन्तिम समय की स्मृति, सभी उनके अनुयायियो को उनका लक्ष्य पूरा करने की प्रेरणा करती है। हम आज भी एक चौराहे पर खड़े हैं। मृत्यु के मार्ग पर दौड़ी जा रही मानव जाति हमे चुनौती दे रही है।

जीवन का मार्ग हमे बता कर महर्षि विदा हुए। किन्तु क्या हम उनके उत्तराधिकारी उनका काम अधूरा रहने देंगे? आर्यजन! सोचो, क्या दीप

क्षमा प्रार्थना ! धन्यवाद !

बहुत चाहने पर भी जिस ढंग से हम इसे प्रकाशित करना चाहते थे, न कर सके, फिर भी अंक आप के हाथ में है। आर्य जगत् के उच्च कोटि के विद्वानों के १३ लेख इस अंक की शोभा बढ़ा रहे हैं। सभी लेखों में विद्वान् लेखकों ने नास्तिकता के खंडन को सरल और प्रभावशाली प्रकार से प्रस्तुत किया है। इस के लिए मान्य विद्वानों के हम हृदय से आभारी हैं।

अनेक आर्य समाजों व आर्य विद्वानों के आग्रह से 'सत्यार्थप्रकाश' का उत्तरार्धगत ४ समुल्लासों को इस अंक में नहीं दिया जा रहा। उनका पक्ष यह था कि अति संक्षेप से विषय का भाव स्पष्ट न हो सकेगा और खंडन पक्ष की आज अत्यधिक आवश्यकता है। अतः पिछले ४ समुल्लासों को तो बहुत विस्तार पूर्वक छपना चाहिए। इस आग्रह को स्वीकार इसलिए भी करना पड़ा कि १० समुल्लासों में ही घोषित पृष्ठ पूरे हो गये और विद्वानों के यत्न पूर्वक लिखे लेखों को छोटा करना हमने उचित नहीं समझा।

अतः यह निश्चय किया गया है कि शिवरात्रि के अवसर पर हम इसी रूप-रेखा का एक अंक 'अवैदिक मत खण्डन'' विशेषांक के नाम से और प्रकाशित करें, पाठक शिवरात्रि तक प्रतीक्षा करें।

हम माननीय पं० मदनमोहन विद्यासागर, पं० अमरसिंह आर्य पथिक, श्री

प० शिवपूजन जी बी. ए. व पं० हरिदेव सिद्धान्त भूषण, पं० ओम्प्र शास्त्री से क्षमा प्रार्थी हैं, जिन्होंने अत्यन्त यत्न पूर्वक पिछले समुल्लासों पर भेजे थे। यह सभी लेख "अवैदिक—मत—खडन" अंक मे प्रकाशित होंगे।

यह अंक ७ हजार छापा, जब कि आज तक हमें दस हजार के आदेश प्राप्त हो चुके हैं। देर से आने के कारण जिन के आदेश पूरे न हो सकें उनसे हम क्षमा चाहते हैं।

आर्य जनता ने जिस उत्साह से हमें सहयोग दिया है उसके लिए हम कृतज्ञ हैं, विश्वास है कि यह स्नेह सदा बना रहेगा।

अक की त्रुटियो के लिए भी हम क्षमा चाहते हैं।

एक प्रार्थना

भारत की राजधानी से प्रकाशित आप का "आर्योदय" आपके हाथ में है। यदि वस्तुतः आर्य समाज के संदेश का प्रसार आप चाहते है तो आज ही ८) भेजकर इसके सदस्य बनिए। आपका यह सहयोग आर्य समाज की भारी कमी पूरी करेगा। समर्थ आर्य समाज अपने नगर मे एजेंसी लेकर भी सहयोग दे सकते हैं।

—भारतेन्द्रनाथ

अगला अंक दीपमाला के अवकाश के कारण बन्द रहेगा।

अगला आर्योदय २४ नवम्बर को प्रकाशित होगा।

चार आना निधि!

पंजाब आर्य प्रतिनिधि सभा से सबंधित प्रत्येक आर्य समाज के सभासद से प्रार्थना है कि वे अपने परिवार के प्रत्येक व्यक्ति के हिसाब से चार आना।) प्रति व्यक्ति अपनी समाज के मत्री के पास वेद प्रचार के लिए जमा कराएँ।

दीवाली के अवसर पर जहाँ हम और अनेक व्यय करते हैं वहाँ आप इस अल्प राशि को अवश्य निकाल महर्षि के लक्ष्य को आगे बढाने में हाथ बटाएं।

जगदेवसिंह सिद्धान्ती — प्रधान
हरिप्रकाश — मंत्री
मुनीश्वरदेव — अधिष्ठाता

आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब

होश्यारपुर रोड जालन्धर

ध्वजा न झुकने देंगे !

प्राणो का अभिनव अभिनन्दन, सत्य ज्ञान का मधु सगीत,
ऋषि ने दिया धरा को जीवन, जीवन को मगलमय प्रीत ।
'प्राण' सजा कर ही पा सकता, मानव अपना लक्ष्य महान्,
जीव ब्रह्म से मिलने का ही, ठौर अरे यह विश्व ललाम ।।

बधन काटे अन्धकार के, किया मोक्ष का मार्ग प्रशस्त,
शाति सुखो की वर्षा बरसे, रहे न प्रभु के प्राणी त्रस्त ।
नव युग का निर्माण लक्ष्य था, सारी धरती से था प्यार,
दयानन्द ही तो था ऐसा, जिसका था सारा ससार ।।

धरती का आचल मैला था, मानवता अज्ञान ग्रस्त थी,
सत्य मार्ग सब भूल चुके थे, जीवन तत्री रुद्ध अस्त थी ।
शस्य श्यामला देव भूमि यह, पाखडो से भरी पड़ी थी,
स्नेह नही था, ऐक्य नही था, रुदन कष्ट की लगी झड़ी थी ।।

ऐसे मे ही ऋषिवर ने था, सबको 'सत्यार्थप्रकाश' दिखाया,
वेद ज्ञान की ज्योति प्रबल से, जग का तम-अज्ञान हटाया ।
ज्ञान प्रभा आलोक प्राण से, जन-जन मन मे दीप जलाये,
क्षुब्ध सुप्त अतर मानव के, दीप्ति पु ज से पुनः जगाये ।।

जाग उठे हम, अब न कही पर पाखडो को रहने देगे,
प्राणो की हवि दे दे कर भी, ऋषि की ध्वजा न झुकने देगे ।
बाधाये कितनी भी आये, गति ज्ञान नही रुकने देगे,
विजय वरण हित चरण बढ़े, तो अन्याय नही चलने देगे ।।

—राकेश रानी

भूमिका के आधार पर

सत्यार्थ प्रकाश क्यों ?

श्री रघुवीरसिंह शास्त्री 'वेदवाचस्पति'

● ● ●

किसी ग्रन्थ की भूमिका मे ही रचयिता के ग्रन्थ सम्बन्धी ध्येय, सिद्धान्त तथा अभिप्राय का दिग्दर्शन मिलता है। महान् ग्रन्थ सत्यार्थप्रकाश की इस छोटी-सी भूमिका मे भी कर्ता तथा ग्रन्थ दोनो का आशय समाहित है।

भाषा

सबसे पहले महर्षि ने ग्रन्थ की भाषा की चर्चा की है। वह लिखते हैं—

"जिस समय मैंने यह ग्रन्थ 'सत्यार्थप्रकाश' बनाया था, उस समय और उससे पूर्व संस्कृतभाषण करने, पठन-पाठन मे सस्कृत ही बोलने और जन्मभूमि की भाषा गुजराती होने के कारण से मुझको इस भाषा का विशेष परिज्ञान न था, इससे भाषा अशुद्ध बन गई थी। अब भाषा बोलने और लिखने का अभ्यास हो गया है। इसलिये इस ग्रन्थ को भाषाव्याकरणानुसार शुद्ध करके दूसरी बार छपवाया है।"

इन वाक्यो से कई बातो पर प्रकाश पडता है। एक तो यह है कि भारत की तत्काल मे प्रचलित भाषाओ मे से महर्षि केवल गुजराती जानते थे, क्योकि वह उनकी जन्भूमि की भाषा थी। परन्तु पीछे उनका गुजराती भाषी जनता से बहुत ही थोडा सम्पर्क रहा, अतः सम्भवत. कदाचित् ही गुजराती के प्रयोग का अवसर आया हो। वे न केवल पठन-पाठन ही, अपितु अन्य भी सब कार्य-व्यवहार तथा सम्भाषणादि सस्कृत मे ही किया करते थे, जिसका अर्थ है कि संस्कृत भाषा पर उनका पूर्ण अधिकार था और वही उनके व्यवहार की भाषा थी।

परन्तु उन्हे अनुभव हुआ कि अपने भाव तथा सन्देश जनता तक पहुँचाने के लिये यह आवश्यक है कि जनभाषा मे ही उनका प्रतिपादन किया जाय। यथार्थ धर्म का रूप अनेकविध आडम्बरो, पाखण्डो, सम्प्रदाय परम्पराओं तथा अन्धविश्वासो के गाढे परतो के नीचे दबा हुआ था। जनभाषा मे धर्मसम्बन्धी उत्कृष्ट साहित्य का सर्वथा अभाव था। सस्कृत भाषा भी तत्कालीन धर्मधुरन्धरो की सकीर्णता के कारण कुछ उन थोड़े से लोगो मे बची हुई थी, जो स्वय अर्वाचीन पडितो के शब्दजाल एव कल्पना प्रवाद से बाहर न झांक सकते थे। प्राचीन वैदिक साहित्य से इन नवीन संस्कृतज्ञो का सम्बन्ध सर्वथा विच्छिन्न हो चुका था, जब कि वैदिक दार्शनिक धर्म का निधि तो उस प्राचीन वैदिक साहित्य के गर्भ मे ही विद्यमान था और अर्वाचीन सस्कृत साहित्य का प्रवाह उससे बिलकुल विपरीत दिशा मे बह रहा था। इन शाब्दिक पंडितो का अहम्भाव बडी तत्परता से इसी दिशा मे व्यापृत एवं सन्तुष्ट था। साथ ही उनका यह भी यत्न रहा कि संस्कृत भाषा से कम-से-कम लोगो का सम्पर्क बनने दिया जाय ताकि धर्म सम्बन्धी तत्त्वो से जनता अपरिचित एवं असम्पृक्त ही रहे। इस स्थिति का उन्हे यह लाभ प्रतीत हो रहा था कि धर्म के वे एकमात्र प्रवक्ता बने हुए थे, अज्ञानग्रस्त जनता धर्म के नाम पर प्रचलित परम्पराओ की वास्तविकता को न भाँप सकती थी।

महात्मा बुद्ध के विचार भी जनता मे अधिक ग्राह्यता इसीलिये प्राप्त कर सके कि वे जनभाषा के माध्यम मे प्रसारित किये गये थे। संस्कृत भाषा के परमोपासक तथा निष्णात होते हुये भी महर्षि दयानन्द ने व्यावहारिक दृष्टिकोण अपनाया और जनभाषा मे यह कृति लिखने का संकल्प किया।

अब उनके सामने यह प्रश्न था कि भारत की प्रचलित भाषाओं मे जनभाषा या राष्ट्रभाषा किसे माना जाय? साहित्यिक भाषा के रूप मे उन दिनों हिन्दी का मानो प्रभातकाल ही था, खड़ी बोली का तो तब तक भी लेखन-क्षेत्र मे बहुत कम प्रवेश हो पाया था। परन्तु क्रान्तदर्शी महर्षि ने हिन्दी के भविष्य को भाँपा और उसे ही अपने इस महान् ग्रंथ का माध्यम बनाया। इसी आधार पर प्रायः हिन्दी साहित्य के इतिहास मे हिन्दी के प्रवर्तकों में उनका नाम अग्रणी रूप में अंकित रहता है। इस प्रकार हिन्दी को देश की

जनभाषा बनाकर उसे राष्ट्रभाषा के ऊँचे आसन पर बैठाने का महर्षि मनोरथ था जिसका सुफल आज प्रत्यक्ष हो रहा है।

विशेषता यह है कि इसी निमित्त महर्षि ने हिन्दी सीखी। जब पहले-पहल इस ग्रन्थ की रचना की तो उनका हिन्दी ज्ञान परिनिष्ठित न हो पाया था, अतः पहले सस्करण मे अशुद्धियो का रह जाना स्वाभाविक था। मुद्रण के पश्चात् उनका ध्यान इन अशुद्धियो की ओर गया और उन्होने पुनः हिन्दी का अपना ज्ञान सम्पुष्ट और परिष्कृत किया, तदनन्तर यह ग्रन्थ दो बारा मुद्रित कराया।

प्रामाणिक संस्करण

यह स्पष्ट है कि वह दूसरा सस्करण ही प्रामाणिक है जिसे ऋषि ने पुनः देख शोधकर मुद्रित कराया। पहला सस्करण प्रामाणिक नही माना जा सकता। उन्होने भूमिका मे यही लिखा है कि छपने की भूलें भी निकाल शोधकर ठीक कर दी गई हैं। पहला सस्करण यो भी अधूरा ही था, क्योकि उसमे अन्तिम दो समुल्लास तथा स्वसिद्धान्त किसी कारण न छप सके थे। दूसरे सस्करण मे ये भी जोड़ दिये गये, अत' यही सस्करण पूर्ण भी है।

विषय-विभाजन

इस ग्रन्थ के विषय विभाजन की दृष्टि से १४ भाग किये गये हैं। इनका नाम समुल्लास रखा गया है। पहले दो भाग किये गये हैं--पूर्वार्ध और उत्तरार्ध। पूर्वार्ध मण्डन प्रधान है जिसमे वैदिक सिद्धान्तो का सच्चा एवं विश्कलित रूप बहुत ही तर्क पूर्ण किन्तु सरल शैली मे प्रस्तुत किया गया है। उत्तरार्ध खण्डन प्रधान है जिसमे सभी वेद-विरुद्ध मत-मतान्तरो की तर्कप्रमाण पुरस्सर समीक्षा की गई है और उनके अयुक्त मन्तव्यो का निष्पक्ष खण्डन किया गया है। पूर्वार्ध मे वैदिक दार्शनिक मन्तव्यो से परिचित व्यक्ति ही तदनन्तर इन अवैदिक मन्तव्यो की वास्तविकता समझने के लिये अपेक्षित योग्यता से सम्पन्न हो सकता है और तभी उसमे सत्यासत्य के निर्णय के विवेक की क्षमता पैदा हो सकती है। अपने अन्तर मे झांककर ही मनुष्य दूसरे के अन्तर को देखने की प्रवृत्ति अपनाये तो ठीक मन्थन कर सकता है।

पूर्वार्ध के दश समुल्लास

पूर्वार्ध के दशो समुल्लासो का विषय विभाजन बहुत ही क्रमसगत है और प्राय. सारे ही विषयों का उनमे यथावत् समावेश हो गया है।

पहले समुल्लास मे परमेश्वर के ओकारादि १०० नामो की व्याख्या प्रस्तुत की गई है। इससे जहाँ आरम्भ मे ही ईश्वर के नामो का वर्णन होने से मंगलाचरण की भी पूर्ति होती है वहाँ साथ ही ईश्वर के स्वरूप का प्रतिपादन हो जाने से ग्रन्थका राजमार्ग प्रशस्त हो जाता है। क्योकि धर्मरूपी प्रासाद की आधारभित्ति ईश्वर ही है और ईश्वर सम्बन्धी भ्रामक धारणाओ एवं मन्तव्यो मे ही सारी अन्धपरम्परा पलती है। अत. परम आस्तिक महर्षि ने सर्वप्रथम समुल्लास परमपिता परमात्मा के लिये ही अर्पण किया है।

द्वितीय समुल्लास में सन्तानो की शिक्षा, तृतीय में ब्रह्मचर्य, पठन-पाठन-व्यवस्था और सत्यासत्य ग्रन्थो के नाम; चतुर्थ मे विवाह एव गृहाश्रम का व्यवहार, पञ्चम मे वानप्रस्थ और सन्यासाश्रम की विधि।

इस प्रकार इन चारो समुल्लासो मे शिक्षा-दीक्षा तथा वर्णाश्रम-व्यवस्था का ऐसा विवेचन किया गया है जो अन्यत्र दुर्लभ है। व्यक्ति तथा समाज दोनो ही दृष्टियो से ये समुल्लास पूर्ण एव उपयोगी विवेचनाओ से भरे पड़े हैं।

षष्ठ मे राजधर्म का वर्णन है जिसका प्रधान स्रोत मनुस्मृति है।

सप्तम, अष्टम तथा नवम ये तीन समुल्लास दर्शन प्रधान हैं। सप्तम मे वेद-ईश्वर विषय, अष्टम मे जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय; नवम मे विद्या, अविद्या, बन्ध और मोक्ष की व्याख्या है।

दशम मे आचार, अनाचार और भक्ष्याभक्ष्य का विषय है।

उत्तरार्ध

उत्तरार्ध मे चार समुल्लास हैं। इनमे भी पहले अर्थात् ग्यारहवे मे सबसे पहले आर्यावर्तीय मतमतान्तरो का खण्डन-मण्डन किया गया है। महर्षि दयानन्द इस देश का प्राचीन एव आदि नाम आर्यावर्त मानते हैं और उन्होने जीवनभर जहाँ कही भी प्रसंग आया आर्यावर्त शब्द का ही प्रयोग बार-बार पत्रव्यवहारादि तक मे भी किया है। खण्डन का विषय उपक्रान्त होने पर भी उन्होने पहले आर्यावर्तीय मतो को ही लिया, क्योकि इनका किसी न किसी रूप मे आस्तिकता से सम्बन्ध था। ऋषि ने ग्रन्थ के उत्तरार्ध के आरम्भ मे ग्यारहवें समुल्लास से

पहले लिखी अनुभूमिका मे स्पष्ट लिखा है कि "चार मत अर्थात् जो वेद विरुद्ध पुराणी, जैनी, किरानी और बुरानी सब मतो के मूल है, वे क्रम से एक के पीछे दूसरा, तीसरा, चौथा चला है।"······इनमे से जो पुराणादि ग्रन्थो से शाखा शाखान्तर रूप मत आर्यावर्त देश मे चले हैं उनका सक्षेप मे गुण-दोष इस ग्यारहवें समुल्लास मे दिखाया जाता है इस प्रकार ग्यारहवे समुल्लास मे आस्तिक माने जाने वाले पुराणपन्थी मतो का विवेचन किया। फिर ,बारहवे समुल्लास मे चार्वाक, जैन तथा बौद्ध आदि उन मतो का खण्डन किया जो नास्तिक है, ईश्वर की सत्ता मे विश्वास नही रखते। अन्तिम दो समुल्लासों मे विदेशीय मतो की समीक्षा है। तेरहवे मे ईसाई मत तथा चौदहवे मे मुसलमानो के मत का विवेचन किया गया है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि चौदह समुल्लासो मे इस ग्रन्थ का विभाग बहुत क्रमबद्ध तथा सगत रीति से किया गया है।

सबसे अन्त मे 'स्वमन्तव्यामन्तव्य प्रकाश' नामक प्रकरण में आर्यों ने सनातन वेदविहित मत की विशेषत: व्याख्या लिखी है जिसके सम्बन्ध मे ग्रन्थकर्ता ने घोषणा की है "जिसको मै भी यथावत् मानता हूँ।"

नाम तथा प्रयोजन

इस ग्रन्थ का नाम ही इसके प्रयोजन का विज्ञापक है। सत्य-अर्थ का प्रकाश। इसी का ग्रन्थकर्ता के भूमिकास्थ निम्न शब्द कितना सुन्दर निर्देश करते हैं—"मेरा इस ग्रन्थ के बनाने का मुख्य प्रयोजन सत्य अर्थ का प्रकाश करना है। अर्थात् जो सत्य है उसको सत्य और जो मिथ्या है उसको मिथ्या ही प्रतिपादन करना, सत्य अर्थ का प्रकाश समझा है।';

इससे आगे और भी प्रबल शब्दो में कहते हैं—"जो मनुष्य पक्षपाती होता है, वह अपने असत्य को भी सत्य और दूसरे विरोधी मत वाले के सत्य को असत्य सिद्ध करने मे प्रवृत्त होता है, इसलिये वह सत्य मत को प्राप्त नहीं हो सकता। इसीलिये विद्वान् आप्तो का यही मुख्य काम है कि उपदेश वा लेख द्वारा सब मनुष्यो के सामने सत्यासत्य का स्वरूप समर्पित कर दे, पश्चात् वे स्वय अपना हिताहित समझकर सत्यार्थ का ग्रहण और मिथ्यार्थ का परित्याग करके सदा आनन्द मे रहे।"

"मनुष्य का आत्मा सत्यासत्य का जानने वाला है। तथापि अपने प्रयोजन

की सिद्धि, हठ, दुराग्रह और अविद्यादि दोषो से सत्य को छोड़ असत्य मे झुक जाता है। परन्तु इस ग्रन्थ मे ऐसी बात नही रखी है और न किसी का मन दुखाना वा किसी की हानि पर तात्पर्य है। किन्तु जिससे मनुष्य जाति की उन्नति और उपकार हो, सत्यासत्य को मनुष्य लोग जान कर सत्य का ग्रहण और असत्य का परित्याग करे, क्योकि सत्योपदेश के बिना अन्य कोई भी मनुष्य जाति की उन्नति का कारण नही है।"

इन शब्दो मे ऋषि की सत्यचिरपासा कितनी उग्रता के साथ प्रकट हो रही है। वे सत्य के ग्रहण और असत्य के त्याग को ही आनन्द का स्रोत तथा मानव जाति की उन्नति का एकमात्र कारण मानते है। वे यह भी कहते हैं कि यद्यपि मनुष्य सत्यासत्य को जानता होता है, तथापि स्वार्थसिद्धि, हठ, दुराग्रह एव अविद्यादि दोषो के कारण असत्य की ओर झुक जाता है।

वे यह भी लिखते हैं कि सत्यासत्य के विवेचन के समय उन्होने ध्यान रखा और इस ग्रन्थ मे कोई ऐसी बात नही रखी जिससे किसी का मन दुःखित हो या किसी की हानि हो।

सत्यान्वेषण तथा नम्रता का आदर्श

इसमे आगे की पंक्तियाँ हैं—

"इस ग्रन्थ मे जो कही-कही भूलचूक से अथवा शोधने तथा छापने मे भूलचूक रह जाय उसको जानने जनाने पर जैसा वह सत्य होगा वैसा ही कर दिया जायगा।........................ जो......मनुष्यमात्र का हितैषी होकर कुछ जनावेगा उसको सत्य-सत्य समझने पर उसका मत सगृहीत होगा।"

प्राय: अनेक शतियो से विश्व के क्षितिज पर उदित होने वाले व्यक्तियो की यह प्रवृत्ति बनी हुई थी कि वे स्वय अथवा उनके अनुयायी उन्हे परमेश्वर का दूत अथवा प्रतिनिधि अवतार मानते थे। ऐसे धर्माचार्यों मे भूल-चूक की आशका करना भी बडा अनर्थ अथवा अवाञ्छनीय माना जाता था। परन्तु महर्षि दयानन्द को ऐसा अहम्भाव छू भी न पाया था। उन्होने उपर्युक्त शब्दो मे घोषणा की कि यदि कोई निष्पक्ष व्यक्ति उनकी भूल चूक को जनावेगा तो वे उसका स्वागत करेंगे।

महर्षि विद्वानो के विरोध पर बहुत खिन्न थे और इसी को मनुष्यजाति के अनेकविध दुःखो का कारण मानते थे।

जिन-जिन मतो का उन्होने खण्डन किया है, उनमे भी जो सत्य बातें है, उनके स्वीकार करने पर बल दिया है। इस प्रकार वे चाहते है कि "सबसे सबका विचार होकर परस्पर प्रेमी होके एक-सत्यमतस्थ होवें।" ऋषि के इन शब्दो का स्पष्ट अभिप्राय यह है कि इन मत-मतान्तरो के खण्डन के पीछे भी उनकी यही भावना है कि सत्य की प्रतिष्ठा बढ़े जिससे सब मनुष्यो का अविद्या-एव नानाविचार जन्य पारस्परिक विरोध कम होकर सब एक ही सत्य मत मे स्थिर हो जायें। मनुष्य जाति की एकता के लिए वे विचारो की एकता को आवश्यक मानते है और विचारो की एकता का एक मात्र आधार सत्य का ग्रहण और असत्य का त्याग करने की प्रवृत्ति है।

देश-विदेश के आग्रह से ऊपर

ऋषि धर्म-प्रचार तथा सत्यासत्य के विवेचन मे इतने निष्पक्ष थे कि इसके लिये उनका अपना या पराया देश जैसा कोई विचार तक न था। उनके ये शब्द कितने मार्मिक हैं—

"यद्यपि मैं आर्यावर्त्त देश मे उत्पन्न हुआ और वसता हूँ तथापि जैसे इस देश के मत-मतान्तरो की झूठी बातो का पक्षपात न कर यथातथ्य प्रकाश करता हू वैसे ही दूसरे देशस्थ वा मतोन्नति वालो के साथ भी वर्तता हूँ। जैसा स्वदेश वालो के साथ मनुष्योन्नति के विषय मे वर्तता हूँ, वैसा विदेशियो के साथ भी, तथा सब सज्जनो को वर्तना योग्य है।

क्योकि मै भी जो किसी एक का पक्षपाती होता तो जैसे आजकल के स्वमत की स्तुति, खण्डन तथा प्रचार करते हैं और दूसरे मत की निन्दा, हानि और बन्द करने मे तत्पर होते हैं, वैसे मैं भी होता। परन्तु ऐसी बाते मनुष्य-पन से बाहर हैं।"

स्पष्ट है कि महर्षि स्वमतसम्बन्धी पक्षपात की भावना को अमानुषिक मानते है। यहाँ उपर्युक्त पंक्तियो मे महर्षि ने यह भी संकेत किया है कि उन्होने अपना कोई नया मत या सम्प्रदाय प्रवृत्त नही किया। आडम्बर, पाखण्ड तथा

अन्ध विश्वास आदि का निराकरण करके सत्य सनातन वैदिक धर्म की ही पुन: प्रतिष्ठा की है। इसीलिए उनके ऊपर पक्षपात या दुराग्रह की सम्भावना का आरोप नही लग सकता।

उपसंहार

भूमिका के अन्त मे महर्षि पुन: अपनी उसी स्थापना को दोहराते हुए कहते हैं—

"जैसा मैं पुराण, जैनियो के ग्रन्थ, बायबल और कुरान को प्रथम ही बुरी दृष्टि से न देखकर उनमे से गुणो का ग्रहण और दोषो का त्याग तथा अन्य मनुष्यजाति की उन्नति के लिये प्रयत्न करता हूं, वैसा सबको करना योग्य है······

– इसी प्रकार पक्षपात न करके सत्यार्थ का प्रकाश करना मेरा वा सब महाशयो का मुख्य कर्त्तव्य काम है।"

इस प्रकार भूमिका मे महर्षि ने अपने मन्तव्य तथा प्रयोजनादि का स्पष्टीकरण करते हुए बार-बार इसी बात पर जोर दिया है कि यदि विद्वान् लोग पक्षपात तथा आग्रह छोड़कर सत्य के ग्रहण और असत्य के त्याग की भावना से काम करें तो संसार मे मतमतान्तर सम्बन्धी सब विवाद समाप्त होकर मानव समाज को सुख एवं आनन्द का अनुभव हो सकता है।

●

ऋषि दयानन्द हिन्दुस्तान के आधुनिक ऋषियों मे, सुधारकों मे श्रेष्ठ पुरुषों में एक थे।

उनके जीवन का प्रभाव हिन्दुस्तान पर बहुत अधिक पड़ा है।

—महात्मा मोहनदास कर्मचन्द गांधी

इश्वर के अनेक नाम

अर्थ-विवेचन और व्याख्या

सत्यार्थप्रकाश के प्रथम समुल्लास
के आधार पर

श्री प० हरिशरण जी 'सिद्धान्तालंकार'

• • •

महर्षि दयानन्द ने सत्यार्थप्रकाश के प्रथम समुल्लास मे अखिल ब्रह्माण्ड के रचयिता परमात्मा के १०८ नामो का वर्णन किया है। ऋषि का मंतव्य है जो पदार्थ सत्य है उस के गुण कर्म स्वभाव भी सत्य होते है, इसलिए मनुष्यों को योग्य है कि परमेश्वर की ही स्तुति, प्रार्थना और उपासना करे उससे भिन्न की कभी न करे।

जो सभी का उपास्य देव है उसके विभिन्न नाम किस प्रकार उसकी विभिन्न शक्तियो को प्रकट करते हैं, किस प्रकार उन नामों का व्याकरण के अनुसार परमात्मा-परक अर्थ होता है, इत्यादि इस समुल्लास का मुख्य प्रतिपाद्य विषय है।

विद्वान् लेखक ने अपने विस्तृत अध्ययन के बल पर प्रभु के नामों की क्रमबद्ध व्याख्या प्रेरक रूप में प्रस्तुत की है। —सम्पादक

• • •

एक

अमर ग्रन्थ सत्यार्थप्रकाश का प्रथम समुल्लास वस्तुत ग्रन्थ का मंगलाचरण है। यही कारण है कि प्रत्येक समुल्लास के प्रारम्भ में जहाँ ऊपर शीर्षक मे विषय का संकेत हुआ है, वहाँ प्रथम समुल्लास में इस प्रकार का कोई शीर्षक नहीं है। इसलिए सत्यार्थप्रकाश का प्रारम्भ द्वितीय समुल्लास से ही समझना चाहिए। प्रथम समुल्लास में तो आचार्य ने अपने ग्रन्थ को प्रारम्भ करने के लिये प्रभु का स्मरण किया है। वैदिक संस्कृति में प्रत्येक कार्य का प्रारम्भ प्रभु-स्मरण के साथ करने की परिपाटी है। आचार्य भी इस परिपाटी का पालन करते हुए प्रथम समुल्लास में प्रभु का स्मरण करते हैं। यही मंगलाचरण है, जिसके लिये पतञ्जलि प्रसंग वश लिखते हैं कि 'मंगलादीनि मगलमध्यानि मंगलान्तानि शास्त्राणि प्रथन्ते' अर्थात् जिन शास्त्रों का प्रारम्भ, मध्य व अन्त मंगल से होता है वे शास्त्र संसार में विस्तृत होते हैं।

ओ३म् God व अल्लाह

प्राचीन ऋषि मुनि 'ओ३म्' वा 'अथ' शब्द से अपने ग्रन्थों का प्रारम्भ किया करते थे। 'ओ३म्' के अनेक अर्थ होते हुए भी मुख्य प्रचलित अर्थ 'रक्षक' ही है। 'अव रक्षणे' धातु से इस शब्द को बनाया जाता है। 'गुड रक्षणे' भी धातु है, उससे यह God शब्द बन गया है। 'अलं' वारण=रोकने का वाचक हैं, 'ला' का अर्थ प्राप्त कराना है (आदान)। विघ्नो के निवारण की शक्ति का आदान किए हुए वे प्रभु 'अल्लाह' है। इस प्रकार मूल में ये सब शब्द समानार्थक हैं। 'ओ३म्' की मूल धातु 'अव' उन्नीस अर्थों वाली है। एवं ओ३म् का अर्थ अधिक व्यापक हो जाता हैं। माण्डूक्योपनिषद् में 'अ उ म्'

इस प्रकार तीन मात्राओं को भिन्न-भिन्न धातुओं से बना हुवा प्रतिपादित करके 'अ' से विराट्-अग्नि-व विश्व आदि नामों का, 'उ' से हिरण्यगर्भ वायु व तैजस आदि का तथा 'म' से ईश्वर आदित्य व प्राज्ञादि नामों का ग्रहण किया है। एवं 'ओ३म्' का अर्थ बड़ा व्यापक हो जाता है। सिद्धान्ततः, यह सारे वेदों का सारभूत है। सारे वेदों को एक शब्द में कहना हो तो यही कहेगे कि 'ओ३म्'। इस बात का ध्यान करते हुए आचार्य ने 'ओ३म्' को प्रभु का सर्वोत्कृष्ट नाम माना है। इस नाम के अतिरिक्त निन्यानवें अन्य नामो का व्याख्यान करके आचार्य ने अपने मंगलाचरण को पूरा किया है। संयोगवश कुरान में भी 'अल्लाह्' के अतिरिक्त प्रभु के निन्यानवें और नाम आये हैं और इस प्रकार वहाँ भी प्रभु के सौ ही नाम प्रसिद्ध हुए हैं। 'अथ' शब्द का अर्थ भी है 'प्रभु के रक्षण मे' (अ=प्रभु, थ=Protection=रक्षण)।

अग्नि वायु इन्द्र

'ओ३म्' के अतिरिक्त प्रभु को 'अग्नि वायु इन्द्र' आदि नामों से आचार्य ने स्मरण किया है। यह ठीक है कि ये नाम आग-हवा व सूर्य आदि प्राकृतिक पदार्थों के भी है; साथ ही ये नाम प्रभु के भी हैं। जहाँ भी स्तुति, प्रार्थना, उपासना का प्रसंग हो और सर्वज्ञ, व्यापक, शुद्ध सनातन आदि विशेषण दीखें; वहाँ इन नामो से प्रभु का ही ग्रहण करना चाहिये। परन्तु जहाँ उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय का प्रकरण हो और जड़ व दृश्य आदि विशेषण हों, वहाँ प्रभु का ग्रहण न करके इन नामों से लौकिक वस्तुओ का ग्रहण ही उचित है। एक 'ओ३म्' नाम ऐसा है जो किसी प्राकृतिक वस्तु का नहीं। यह केवल परमेश्वर का ही नाम है। सो यह परमेश्वर का निज नाम है। इसलिए भी यह नाम सर्वोत्कृष्ट है। उस प्रभु का निर्देश 'ओ३म् तत् सत्' इस प्रकार किया जाता है। इस प्रसिद्ध निर्देश मे भी 'ओ३म्' को प्रथम स्थान दिया गया है। यह रक्षक प्रभु (ओ३म्) सर्वव्यापक है (तत्) और सदा निर्विकार रूपेण रहने वाले हैं (सत्)।

हरि ओ३म्

अग्नि आदि नामों की तरह 'हरि' नाम भी दुःखों के हरण करने वाले प्रभु का ही है तथा यह शब्द घोड़े आदि का भी प्रतिपादन करता है। यह नाम

प्रभु का वाचक अवश्य है परन्तु जब 'ओ३म्' नाम की सर्वश्रेष्ठता सर्वमान्य है तो ओ३म् नाम से पूर्व किसी और नाम को स्थान देना उतना ठीक नहीं है। 'ओ३म् तत् सत्' इस निर्देश की तरह 'ओ३म् हरि' यह निर्देश ही अधिक उपयुक्त है। मध्यकाल में जबकि अनेक सम्प्रदाय आविर्भूत हो गये, उस समय वैष्णव सम्प्रदाय मे 'हरि' विष्णु का नाम होने से अधिक समादृत हो गया और 'हरि ओ३म्' बोलना उन्हे ठीक लगा। प्राचीन पद्धति का ध्यान करते हुए और साम्प्रदायिक आग्रह से ऊपर उठते हुए हमें 'ओ३म् हरि' इस रूप मे ही प्रभु का स्मरण करना चाहिये।

समुद्र मे बिन्दुवत्

इस प्रकार 'ओ३म्' के अतिरिक्त प्रभु के अनन्त नाम हैं। प्रभु के अनन्त गुण कर्म स्वभाव हैं। प्रत्येक गुण कर्म स्वभाव का एक-एक नाम है। यहाँ आचार्य ने सौ नामों का व्याख्यान किया है। ये सौ नाम तो नाम-सागर के कुछ बिन्दु मात्र ही हैं। यह समझ लेना कि सौ ही नाम हैं यह तो भ्रम ही होगा।

मित्र

प्रभु के नामों में 'मित्र' यह भी नाम है। इसी प्रकार 'दयालु और न्यायकारी' आदि नाम हैं। ये नाम जीवो के लिए भी प्रयुक्त होते हैं। परन्तु जीवों में यदि कोई किसी का मित्र है, तो किसी दूसरे का कुछ विरोधी भी होता है। इसके विपरीत प्रभु सबके मित्र ही हैं। वे सब पर दया करने वाले हैं। वे कभी अन्याय नहीं करते। जीव कहीं दया करता है, तो कहीं वह दया को नहीं भी करता। अल्पज्ञता के कारण जीव से कुछ अन्याय हो जाने की सदा आशंका है। प्रभु सर्वज्ञ हैं और सर्वशक्तिमान् हैं, सो वे कभी अन्याय व निर्दयता करने वाले नहीं होते। इस प्रकार 'मित्र दयालु व न्यायकारी' आदि नाम ठीक-ठीक तो प्रभु के ही हो सकते हैं। जीव तो अंशत' ही मित्र दयालु व न्यायकारी हो पाता है।

दयालु व न्यायकारी

लोक में 'दया' शब्द की भावना कुछ इस प्रकार से समझी जाती है कि अपराधी को दण्ड न देकर उसे क्षमा कर देना। परन्तु यदि यह भाव दया का

समझा जाय और प्रभु की दया का यही स्वरूप हो तो न्यायकारित्व तो नष्ट ही हो जाय। साथ ही अपराध क्षमा होने का सम्भव होने पर पाप करने में भय भी जाता रहेगा। इसलिये प्रभु की दया आचार्य के शब्दों में यही है कि प्रभु किसी का अहित नही चाहते और उन्नति पथ पर बढ़ने के लिए सब साधनो को समुचित रूपेण प्राप्त कराते है। इस दया के साथ न्यायकारित्व का किसी प्रकार से विरोध नहीं। प्रभु न्यायपूर्वक कर्मानुसार जीव को उस-उस स्थिति मे प्राप्त कराते हैं। प्रभु का दिया हुआ दण्ड उस जीव के लिए इस प्रकार होता है जैसे कि रोगी को दी जाने वाली औषध। यह कड़वी होती है, पर रोग-निवारण के लिए आवश्यक होती है। इसी प्रकार प्रभु से दिया गया दण्ड पाप-प्रवृत्ति को दूर करने के लिए होता है। एवं प्रभु दयालु भी हैं, न्यायकारी भी।

सगुण व निर्गुण

जैसे 'दयालु व न्यायकारी' इन नामों मे विरोध-सा प्रतीत होता था, इसी प्रकार सगुण व निर्गुण नाम भी परस्पर विरुद्ध प्रतीत होते हैं। गुणो से युक्त 'स-गुण' है और गुणो से रहित 'निर् गुण'। लोक मे तो साकार को सगुण व निराकार को निर्गुण कहने की भी परिपाटी है। परन्तु सगुण का शब्दार्थ साकार करना तो ठीक है ही नहीं। प्रभु स-गुण इसलिये हैं कि वे ज्ञान, शक्ति दया व न्याय आदि गुणो के सदा साथ होते हैं और जडता आदि से रहित होने से वे निर्गुण हैं। प्रकृति के सत्त्व रज व तम इन गुणो से ऊपर उठे होने के कारण वे प्रभु निर्गुण हैं। इन गुणो का रक्षण करते हुए भी वे इनसे लिप्त नही हैं। 'निर्गुण, गुणभोक्तृच'।

ब्रह्मा-विष्णु-महेश

ये निर्गुण होते हुए भी गुणो के भोक्ता (पालक) प्रभु अत्यन्त सूक्ष्म होने से (अणोरणीयान्) प्रकृति को ग्रहण करके उस प्रकृति से इस विकृति रूप संसार का निर्माण करते हैं। इस संसार का वर्धन करने के कारण वे प्रभु 'ब्रह्मा' है—(बृहि वृद्धौ)। उनके ज्ञान मे किसी प्रकार की कमी नहीं। इसी से उनके बनाये हुए इस ससार मे भी किसी प्रकार की कमी नहीं (पूर्णमदः, पूर्णमिदम्) प्रकृति से इस संसार के निर्माण मे वे किसी की सहायता की अपेक्षा नहीं करते। सर्वशक्तिमान् होते हुए स्वयं ही इसकी रचना करने में

वे समर्थ हैं। इस प्रकार वे प्रभु ज्ञान व शक्ति के पुञ्ज हैं। सर्वज्ञ हैं—सर्व शक्तिमान् हैं, ज्ञान के पति हैं। सरस्वती मानो उनकी पत्नी ही हो—पत्नी ही क्या, वे तो स्वयं 'सरस्वती' हैं। इसी प्रकार वे शक्ति के पुञ्ज हैं—'शक्ति' ही है।

इस संसार का निर्माण करके, सबके अन्दर व्याप्त होकर, इन सब पिण्डों का वे धारण कर रहे है। इस व्याप्ति के कारण ही वे 'विष्णु' है (विष् व्याप्तौ)। जीवो को भी जीवन धारण के लिए आवश्यक धनों का वे प्रदान करने वाले हैं। सब धनों के स्वामी वे ही हैं—लक्ष्मीपति हैं—'लक्ष्मी' ही हैं। अन्य व्यक्ति तो कुछ समय के लिए कुछ स्थान के स्वामी होते हैं। पर ये प्रभु, सदा के लिए सब के स्वामी हैं। इसी से 'महेश' कहलाते है—प्रभु ही 'ईश' या ईश्वर हैं—'परमेश्वर' हैं 'विश्वेश्वर' हैं। प्रभु के रचे हुए अग्नि आदि पदार्थ 'देव' है तो प्रभु महादेव है। इन सब अग्नि आदि को देवत्व के वे ही प्रदान करने वाले हैं (तेन देवा देवतामग्र आयन्)। इस सृष्टि के निर्माता प्रभु, ही, दिन की समाप्ति पर जैसे रात्रि आती है, उसी प्रकार, सृष्टि के समय की समाप्ति पर प्रलय करते हैं। सारे संसार की समाप्ति करने के कारण के 'काल' कहलाते हैं। स्वयं तो वे 'अकाल पुरुष' हैं। इस प्रलय के कारण ही वे उग्र रूप वाले प्रभु 'रुद्र' कहलाते है। इस रुद्र की शक्ति को ही 'रुद्राणी' कहा जाता है। यही शक्ति 'भवानी' व 'पार्वती' भी कहलाती है। सारे संसार को अपने मे समा लेने से—रख लेने से यह भवानी है, सबका अपने मे पूरण कर लेने से पार्वती है (पूर्व पूरणे)। इस पार्वती के पति वे 'महादेव' ही है। इस प्रलय के समय सारा संसार उस प्रभु मे ही शयन करता है। 'शेते यस्मिन्' इस व्युत्पत्ति से वे प्रभु इस समय 'शिव' कहलात हैं। प्रभु प्रलय भी जीवो के हित के लिए ही करते हैं। जितना महत्त्व रात्रि का है, वही महत्व बड़े परिमाण मे प्रलय का है। जीवन के लिए रात्रि भी अत्यन्त आवश्यक है, इसी प्रकार प्रलय भी। जीव अपने जीवन का प्रलयानन्तर फिर नये सिरे से निर्माण करने मे समर्थ होता है। इस प्रकार, प्रलय करने वाले ये प्रभु वस्तुतः 'शिव' हैं—कल्याण करने वाले हैं। शान्ति को प्राप्त कराने वाले ये प्रभु सचमुच 'शकर' हैं।

बन्धु-पिता-गुरु

अब प्रलय की समाप्ति पर सृष्टि के प्रारम्भ में सबको कर्मानुसार भिन्न-भिन्न योनियों में बांधने वाले ये प्रभु 'बन्धु' हैं। सबको जन्म देने वाले ये प्रभु 'माता' व 'पिता' हैं। पिताओं के भी पिता होने से 'पितामह' व 'प्रपितामह' कहलाते हैं। प्रभु ही ज्ञान देने वाले 'गुरु' हैं। सब विद्याओं के ज्ञाता 'बुद्ध' हैं, और सब विद्याओं का ग्रहण कराने वाले 'आचार्य' हैं। स पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्'। इस जीवन में हमारे धारण के लिए सब वस्तुओं का निर्माण करने वाले ये 'विधाता' हैं। वेद के द्वारा सब विद्याओ का उपदेश देने वाले 'कवि' हैं। इस महान् कवि का अजरामर महान् काव्य वेद ही तो है 'पश्य देवस्य काव्यं न ममार न जीर्यति'।

अनादि-अनन्त

इस प्रकार ये प्रभु इस सृष्टि-प्रलय के क्रम को चलाते हैं। अनादि काल से यह चक्र चल रहा है, अनन्त काल तक यह चलता चलेगा। इसको चलाने वाले प्रभु भी स्थान व समय दोनों के दृष्टिकोण से 'अनादि' और 'अनन्त' हैं। 'प्रभु को कोई और बनाने वाला हो' ऐसी बात नहीं। वे तो सदा से स्वयं हैं-'स्वयम्भू' है-(खुद-आ) खुदा हैं 'नित्य' हैं। सर्वव्यापक होने के नाते वे कभी शरीर में नहीं आते—'अ-ज' हैं सदा 'मुक्त' हैं 'निराकार' हैं। निराकार होने से उन में किसी भी प्राकृतिक वस्तु के लेप का सम्भव नही, सो वे 'निरञ्जन' हैं, 'शुद्ध' हैं। अपनी व्याप्ति से सारे स्थान में पूर्ण होने से 'पुरुष' भी कहलाते हैं। सर्वत्र व्याप्त होकर सबका भरण करने वाले ये प्रभु 'विश्वम्भर' हैं। सबके अन्दर प्रविष्ट होकर रहने से ये 'विश्व' हैं। हमारे हृदयों मे प्रविष्ट होकर सब कुछ जानते हैं, अन्तः स्थित होते हुए 'अन्तर्यामी' हैं। सबका नियमन करने वाले ये 'यम' हैं।

धर्मराज

पूर्ण धर्म से शोभायमान होते हुए 'धर्मराज' कहलाते हैं। सब गुणों से (ऐश्वर्य-धर्म-यश-श्री-ज्ञान और वैराग्य) युक्त वे 'भगवान्' है। इसीलिए आश्रय करने योग्य होने से 'श्री' हैं, दर्शनीय होने से 'लक्ष्मी' हैं (लक्ष दर्शने)। सब मनुष्यों की अन्तिम शरण ये 'नारायण' ही हैं। सबसे उपासना क योग्य

होने से ये 'यज्ञ' हैं। सबको अपनी व्याप्ति से आच्छादित किये हुए ये 'कुबेर' हैं (कुवति स्वव्याप्त्या आच्छादयति)। सम्पूर्ण जगत् का विस्तार करने वाले 'पृथिवी' हैं। सबके आधार होने से 'भूमि' हैं (भवन्ति भूतानि यस्याम्)।

राहु-केतु

पूर्ण ज्ञान वाले ये प्रभु 'मनु' हैं। इस संसार में ये उपासकों के हृदयों को (केतयति) प्रकाशमय करने से 'केतु' हैं। इस प्रकाश को देकर ये अशुभों से हमें पृथक् करते हैं। अशुभों से छुडाने के कारण ही 'राहु' हैं (राहयति त्याजयति)। इस प्रकार हमारे निवासों को उत्तम बनाने वाले प्रभु 'वसु' हैं। हमारे लिए सब आवश्यक वस्तुओं के देने वाले 'होता' हैं (हु दाने)। सदा निर्विकार रूप से स्थित होने वाले ये प्रभु 'कूटस्थ' हैं, 'सत्' हैं। 'चित्' होते हुए हमें चेताने वाले हैं। और इस प्रकार अशुभों से बचा कर हमारे जीवनों को आनन्दित करते हैं, स्वयं तो 'आनन्द' हैं ही।

पंचभूत

सृष्टि के निर्माता प्रभु 'पृथिवी-जल-अग्नि-वायु व आकाश' इन पंचभूतों से इस संसार का निर्माण करते हैं। यह संसार पञ्चभूतात्मक है। हमारा शरीर भी पांचभौतिक है। इस शरीर में भी 'पञ्चप्राण' 'पंच कर्मेन्द्रियाँ' 'पञ्च ज्ञानेन्द्रियाँ' व 'अन्तःकरणपञ्चक' (हृदय-मन-बुद्धि-चित्त-अहंकार) सब पांच ही पांच हैं। सारा संसार ही 'प्र-पञ्च' कहलाता है। इस प्रपञ्च के अधिपति प्रभु इन गणों के ईश होने से 'गणेश व गणपति' हैं। वे स्वयं भी 'पृथिवी' हैं, चूंकि वे सम्पूर्ण जगत् का विस्तार करते हैं। इस पृथिवी से उत्पन्न होने वाला अन्न प्राणियों का प्राणाधार बनता है। अन्तिम आधार तो वे प्रभु ही हैं—प्रभु के आधार से प्राणी अन्न को खाता है, सो प्रभु का भी 'अन्न' नाम हो गया है। ये प्रभु 'ज' जन्म से 'ल' लय (मृत्यु) तक प्राणी का आधार होने से 'जल' हैं। हमारी अग्रगति का कारण होने से वे प्रभु 'अग्नि' हैं (अग्रणी)। गति के द्वारा सब बुराइयों का हिंसन करने के कारण 'वायु' हैं (वा गतिगन्धनयो.)। समन्तात् प्रकाशमय व दीप्त होने के कारण वे 'आ-काश' हैं। निरन्तर गति के कारण ही प्रभु 'आत्मा' हैं (अत सातत्यगमने) और ज्ञान से दीप्त होने के कारण 'सूर्य' हैं। ज्ञानमय होने से ही प्रभु 'मनु' हैं। इस प्रकाशमयता को

स्पष्ट करने के लिए ही 'देवी' शब्द का भी प्रभु के लिए प्रयोग होता है (दिव्-द्युतौ)।

सप्ताह

हमारे जीवन जिन वारों में चलते हैं उनमे अन्तिम वार 'रविवार' कहलाता है। 'रवि' सूर्य का पर्याय है। इससे स्पष्ट है कि हमारे जीवन का लक्ष्य भी यही होना चाहिए कि हम सूर्य की तरह ज्ञानज्योति से चमके। इसके लिए हम 'सौम्य' बनें, यही सोमवार का पाठ है। उद्धतता हमें ज्ञान, से दूर ले जाती है। इस सौम्यता ही मे 'मगल' है। यही हमें बुध-ज्ञानी बनायेगी। ज्ञानियों का ज्ञानी बृहस्पति भी हमे यही बनायेगी। इस ज्ञान से हमारे जीवन पवित्र बनेंगे हम शुक्र (शुचि=पवित्र) होगे। ऐसा होने पर हम जीवनो मे शान्तिपूर्वक (शनै) बिना किसी व्याकुलता के चलने वाले 'शनैश्चर' होगे। ये सप्ताह के नाम प्रभु का भी स्मरण कराते हैं। प्रभु 'सोम' हैं—चन्द्र हैं (सोम चन्द्र 'Monday—moon day' चन्द्रवार) 'चदि आह्लादे'—आनन्दमय हैं उपासकों को आनन्दित करते हैं। 'मगल' है 'मगि गतौ'—अपनी सब गतियो से—क्रियाओं से सब का कल्याण करने वाले है। 'बुध' ज्ञानी हैं। बृहस्पति हैं–बृहतां पतिः इन महान् आकाशादि लोको के स्वामी हैं। शुक्र है—स्वयं पूर्ण पवित्र होते हुए उपासकों के जीवन को पवित्र करने वाले है। शनैश्चर हैं—शान्तभाव से निरन्तर क्रिया को कर रहे हैं। रवि हैं (रु, To break अन्धकार को छिन्न-भिन्न करने वाले हैं।

शान्ति के दाता प्रभु

ये प्रभु 'मित्र' हैं हमे रोगी से बचाने वाले हैं। 'वरुण' हैं (पापान्निवारयति) हृदयस्थ रूपेण प्रेरणा के द्वारा पाप का निवारण करने वाले है। 'अर्यमा' हैं— अर्थात् मिमीते' जितेन्द्रियो को मान प्राप्त कराने वाले हैं। 'इन्द्र' हैं (इदि परमैश्वर्ये) परमैश्वर्यशाली हैं अथवा हमारे शत्रुओ का विद्रावण करने वाले है। 'बृहस्पति.' है=विशालता के स्वामी हैं, प्रभु मे संकोच व अल्पता नहीं है। 'विष्णु' व्यापक है। उरुक्रम =उरुक्रम हैं—विशाल पराक्रम वाले व महती व्यवस्था वाले। ये प्रभु हमे भी 'मित्रता—निष्पापता—जितेन्द्रियता—कामादि शत्रुओ का विद्रावण—विशालता—व्यापकता व व्यवस्था' का पाठ पढाते हुए शान्ति प्राप्त कराने वाले होते हैं। शान्ति-प्राप्ति के वस्तुत यही साधन हैं।

अ ३ म्

प्रभु के निज नाम ओ३म् की अ ३ म् इन मात्राओं से विराट् अग्नि-विश्व, हिरण्यगर्भ तैजस वायु व ईश्वर आदित्य और प्राज्ञ इन नामों की सूचना मिलती है। सब अक्षरों में 'अ' का विशिष्ट स्थान है। व्यञ्जनों की अपेक्षा स्वर महत्त्वपूर्ण हैं। स्वर 'स्वय रमन्ते' स्वय प्रकाशमान हैं। व्यञ्जन तो स्वरों की सहायता से प्रकट होते हैं (व्यज्यन्ते) स्वरों में अ विशेष रूप से चमकता हैं, 'विराट्' है। प्रभु विराट् हैं प्रकृति व जीव की अपेक्षया विशिष्ट दीप्तिवाले हैं। 'अ' सब व्यञ्जनो में प्रविष्ट है प्रभु भी प्रत्येक पिण्ड में प्रविष्ट हैं 'विश्व' हैं। 'अ' का अक्षरों में प्रथम स्थान है—'अग्नि' है—'अग्रणी'। प्रभु भी 'अग्नि' है। 'उ' रक्षणे उ धातु रक्षण अर्थ वाली है। वायु जीवन का रक्षक है—सो 'उ' है। सर्व महान् रक्षक प्रभु हैं, वे भी 'उ' अर्थात् 'वायु' हैं। 'उ' उकर्ष का वाचक है—सब ज्योतिर्मय पिण्डों को अपने गर्भ में लिए हुए प्रभु सर्वोत्कृष्ट हैं। ज्योतिर्मय पिण्डों को 'हिरण्य' कहते हैं, सो प्रभु हिरण्यगर्भ होते हुए सर्वोत्कृष्ट होने से 'उ' हैं। इस सर्वोत्कर्ष के कारण ही वे 'तैजस' है, वहाँ किसी प्रकार की मलिनता नही। सब मलिनताये वहाँ दग्ध हो जाती हैं। 'म' मात्रा 'मितेः' मापने की सूचना दे रही है। सब पदार्थों के—मापने वाले-जानने वाले—प्रभु 'प्राज्ञ' हैं। मापने का भाव 'बनाना' भी है। इन सब पदार्थों का 'निर्माण' करने वाले प्रभु इन पदार्थों के 'ईश्वर' हैं—मालिक हैं। अन्त में इन्हे अपने अन्दर ले लेने से 'मिनोति ह वा इदं सर्वम्' प्रभु आदित्य हैं। सब का अपने अन्दर आदान कर लेने वाले हैं। इस प्रकार 'अ ३ म्' ये मात्रायें प्रभु के विभिन्न नामों का संकेत करती हैं।

उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय

ये प्रभु स्वयं 'अक्षर' हैं—कभी नष्ट नहीं होते। इस प्रकृति के कण-कण मे व्याप्त होने से ये 'आप्त' कहलाते हैं (आप् व्याप्तौ)। उन प्रकृति कणों से ये सृष्टि का निर्माण करते हैं। इस निर्माण के कार्य में इन्हे किसी की सहायता की अपेक्षा नही होती—ये स्वयं देदीप्यमान 'स्व-राट्' है। सृष्टि का निर्माण करके उसका ये उत्तमता से पालन करते है 'सुपर्ण' हैं। किसी का भी असंगल

न करने के कारण ये 'प्रिय' हैं। इस संसार के महान् भार को उठाकर गतिमय होने के कारण 'गरुत्मान्' हैं। आचार्य के शब्दो मे 'महान्' (गुरु) स्वरूप वाले हैं। इस अनन्त से ब्रह्माण्ड को अपने अन्दर लिए हुए वे सचमुच कितने महान् हैं। सम्पूर्ण अन्तरिक्ष मे गति करते हुए वे 'मातरिश्वा' हैं। अन्त में वे इस सृष्टि को प्रलय निद्रा मे सुलाने वाले 'कालाग्नि' हैं। सबको अपने अन्दर लेकर समाप्त सा करके—स्वय चे रह जाने से 'शेष' हैं। 'शेष' का पर्याय वेद मे 'उच्छिष्ट' भी है। 'ऊर्ध्वं शिष्यते' प्रलय हो जाने पर भी बचे रहते हैं। सब कोई सो गया, तो भी प्रभु जागते हैं 'आनीद् अवातं स्वधया तदेकम्'।

●

इस समुल्लास के सम्बन्ध में श्री पं० विद्यासागर जी शास्त्री वेदालंकार एम० ए० ने हाल ही मे 'अष्टोत्तर शतनाम मालिका' नाम से अत्यन्त उपयोगी पुस्तक वर्षों के अनुसन्धान के पश्चात् लिखी है। जो सज्जन इस विषय मे रुचि रखते हो वे इस पुस्तक को अवश्य पढें। पुस्तक का मूल्य ५ रु० और प्राप्ति स्थान है—भारतीय प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान १४/३१२ रामगंज, अजमेर, और ४६४४ रैहगरपुरा गली ५०, करौल बाग नई दिल्ली।

—सम्पादक

सर्व सत्य का प्रचार कर, सबको ऐक्य मत में करा, द्वेष छुड़ा परस्पर में दृढ़ प्रीति युक्त करा के सब से सबको सुख लाभ पहुँचाने का मेरा प्रयत्न और अभिप्राय है। —*महर्षि दयानन्द*

महर्षि दयानन्द के
शिक्षा सम्बन्धी मौलिक विचार

•

सत्यार्थप्रकाश के
द्वितीय समुल्लास के आधार पर

•

आचार्य श्री पं० प्रियव्रत वेदवाचस्पति

● ● ●

युग। प्रवर्तक दयानन्द मानव जाति के मूल स्रोत 'बालक' के निर्माण को भविष्य की आधार-शिला समझते थे। बालक के जन्म से पूर्व माता पिता के संस्कारो की शुद्धि से लेकर जन्मोपरान्त ज्ञान की प्राप्ति और अंध विश्वास तथा अज्ञान के निवारण का महत्व बताते हुए उन्होने माता पिता तथा गुरु के दायित्वो पर प्रकाश डाला है।

शिक्षा का उद्देश्य और कुशिक्षा-निवारण द्वितीय समुल्लास का मुख्य प्रतिपाद्य विषय है।

सत्य, सुशीलता संयम, उत्साह आदि गुणों का धारण और अज्ञान का विरोध महर्षि शिक्षा का आवश्यक अग मानते थे।

शिक्षा-क्षेत्र में प्रसिद्ध गुरुकुल विश्वविद्यालय काँगडी के प्रसिद्ध विद्वान लेखक ने ऋषि भावनाओ का स्पष्ट निर्देश कर सभा का मार्ग दर्शन किया है। —*सम्पादक*

● ● ●

दो

महर्षि दयानन्द के शिक्षा विषयक मौलिक विचार सत्यार्थप्रकाश के द्वितीय समुल्लास में संकलित हैं। समुल्लास के विषय का निर्देश करते हुए स्वामी जी लिखते हैं—'अथ शिक्षां प्रवक्ष्यामः।' अर्थात् इस समुल्लास में शिक्षा-सम्बन्धी विचारों का प्रतिपादन होगा। स्वामी जी ने इस विषय में अपनी विचार-सम्बन्धी स्पष्टता का प्रशंसनीय परिचय दिया है। उनके विचार उलझे हुए नही हैं, सभी मन्तव्य स्पष्ट रूप मे प्रस्तुत किये गए है। प्रत्येक मन्तव्य अपने आप में पूर्ण है। स्वामी जी ने इस समुल्लास में शिक्षा के मूलभूत सिद्धान्तो पर ही अपना मत प्रकट किया है। पाठ्यक्रम सम्बन्धी विस्तृत सूचनायें उपस्थित करना उन्हे (द्वितीय समुल्लास मे) अभीष्ट नहीं।

स्वामी जी के विचार से ज्ञानवान् बनने के लिए निम्नलिखित तीन उत्तम शिक्षक अपेक्षित होते हैं—माता, पिता और आचार्य। शतपथ ब्राह्मण का निम्नलिखित वचन उनके उक्त विचार का आधार है। 'मातृमान् पितृमान् आचार्यवान् पुरुषो वेद ॥'

अर्थात् वही पुरुष ज्ञानी बनता है जिसे शिक्षक के रूप में प्रशस्त माता, प्रशस्त पिता तथा प्रशस्त आचार्य प्राप्त हों। बालकों की शिक्षा में तीनों मे से किस-किस को कितने समय तक अपना कर्त्तव्य निभाना है, इस विषय में स्वामी जी ने स्पष्ट निर्देश दे दिया है—"जन्म से ५वें वर्ष तक बालकों को माता, ६ठे से ८वें वर्ष तक पिता शिक्षा करे और ९वें वर्ष के आरम्भ मे द्विज अपने सन्तानों का उपनयन करके विद्याभ्यास के लिए गुरुकुल मे भेज दे।"

स्वामी जी ने बालक की शिक्षा में माता का भाग और दायित्व सबसे अधिक बताया है और यह उचित भी है। क्योंकि माता ही बालक को अपने गर्भ में धारण करती है; अत: गर्भकाल में माता के आचार-विचार का बालक पर गहरा प्रभाव पड़ता है। अभिमन्यु द्वारा गर्भ निवासकाल में माता के सुने चक्र-व्यूह-भेदन का रहस्य सीख जाना महाभारत की प्रसिद्ध कथा है। जन्म-प्राप्त करने के बाद भी काफी समय तक बालक माता के सम्पर्क में ही सबसे अधिक रहता है। स्वामी जी ने इस समय की सीमा ५ वर्ष निर्धारित की है। यह काल बालक के जीवन रूपी वृक्ष का अंकुर काल है। इसमें जो गुण उसके अन्दर पड़ जायेंगे वे बहुत गहरे होंगे। इसलिये माता का श्रेष्ठ होना अत्यन्त आवश्यक है। स्वामी जी लिखते हैं, "वह कुल धन्य। वह सन्तान बड़ा भाग्यवान्। जिसके माता और पिता धार्मिक विद्वान् हों। जितना माता से सन्तानो को उपदेश और उपकार पहुँचता है उतना किसी से नहीं। जैसे माता सन्तानो पर प्रेम (और) उनका हित करना चाहती है उतना अन्य कोई नहीं करता; इसलिए (मातृमान्) अर्थात् "प्रशस्ता धार्मिकी माता विद्यते यस्य स मातृमान्।' धन्य वह माता है कि जो गर्भाधान से लेकर जब तक विद्या पूरी न हो तब तक सुशीलता का उपदेश करे।"

अनेक महापुरुषों ने अपनी जीवनियो में माता ऋण स्वीकार किया है और अपने समस्त गुणो को माता से प्राप्त हुआ बताया है।

स्वामी जी की विशेषता यह है कि इन्होने गर्भाधान के पूर्व मध्य और पश्चात्—तीनो समयों मे माता पिता की आचार-विचार सम्बन्धी शुद्धता का विधान किया है। वे लिखते हैं—"कि माता और पिता को अति उचित है कि गर्भाधान के पूर्व, मध्य और पश्चात् मादक द्रव्य, मद्य दुर्गन्ध, रुक्ष, बुद्धिनाशक पदार्थों को छोड़ के जो शान्ति, आरोग्य, बल, बुद्धि, पराक्रम और सुशीलता से सभ्यता को प्राप्त करे वैसे घृत, दुग्ध, मिष्ट, अन्नपान आदि श्रेष्ठ पदार्थों का सेवन करे कि जिससे रजस् वीर्य भी दोषों से रहित होकर अत्युत्तम गुण युक्त हो।" इस प्रकार शुद्ध वीर्य तथा रजस् के संयोग से उत्पन्न सन्तान भी श्रेष्ठ गुणो वाली होगी। माता और पिता का यह शुद्ध आचार-विचार प्रकारान्तर से गर्भस्थ शिशु की शिक्षा ही है। स्वामी जी आगे लिखते हैं—"बुद्धि, बल, रूप,

आरोग्य, पराक्रम, शान्ति आदि गुणकारक द्रव्यों ही का सेवन स्त्री करती रहे जब तक सन्तान का जन्म हो।" ऐसा करने से सन्तान भी बुद्धि, बल, रूप, आरोग्य, पराक्रम आदि गुणों को धारण करेगी। यही उसके शिक्षित होने का दूसरा रूप है जिसका दायित्व शुद्ध रूप से माता पर है क्योंकि सन्तान गर्भस्थ दशा में उसी के रक्त-मांस से पुष्ट होती है।

इसके बाद स्वामी जी ने जन्म प्राप्त सन्तान को शिक्षित करने में माता के कर्त्तव्यों का विस्तार से वर्णन किया है। माता के द्वारा दी जाने वाली शिक्षा दो प्रकार की हो। (१) आचार-सम्बन्धी (२) प्रारम्भिक अध्ययन-सम्बन्धी। आचार-सम्बन्धी शिक्षा मे माता सन्तान को उससे बडो के प्रति किये जाने वाले व्यवहार का उपदेश दे। बड़े, छोटे, माता, पिता, राजा, विद्वान् आदि से कैसे भाषण करना चाहिये, उनके पास किस प्रकार बैठना चाहिये, उनसे किस भाँति वरतना चाहिये आदि बातों का निर्देश देना चाहिये। इससे बालक सर्वत्र प्रतिष्ठा योग्य बनेगा। दूसरे, माता सन्तान को जितेन्द्रिय, विद्याप्रिय तथा सत्सग प्रेमी बनाये जिससे सन्तान व्यर्थ क्रीडा, रोदन, हास्य, लडाई, हर्ष, शोक, लोलुपता, ईर्ष्या, द्वेषादि दुर्गुणो मे न फसे। माता सन्तान को सत्य-भाषण, शौर्य, धैर्य, प्रसन्नवदन बनने वाले उपदेश दे। तीसरे, गुप्तांगों का स्पर्श आदि कुचेष्टाओं से उसे रोके और उसे सभ्य बनाये। प्रारम्भिक अध्ययन-सम्बन्धी शिक्षा मे माता सन्तान को शुद्ध उच्चारण की शिक्षा दे। "माता बालक की जिह्वा जिस प्रकार कोमल होकर स्पष्ट उच्चारण कर सके वैसा उपाय करे कि जो जिस वर्ण का स्थान, प्रयत्न अर्थात् 'प' इसका ओष्ठ स्थान और स्पष्ट प्रयत्न दोनो ओष्ठो को मिलाकर बोलना, ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत अक्षरो को ठीक-ठीक बोल सकना। मधुर, गम्भीर, सुन्दर, स्वर, अक्षर, मात्रा, पद, वाक्य, सहिता, अवसान भिन्न-भिन्न श्रवण होवे।" शुद्ध उच्चारण का बहुत महत्व होता है।

महाभाष्य का वचन है, "माता ही सन्तान को शुद्ध उच्चारण की कला सिखा सकती है, क्योकि शैशव मे उसी का सम्पर्क सबसे अधिक होता है।

इसके बाद सन्तान को देवनागरी अक्षरो का तथा अन्य देशीय भाषाओं के अक्षरो का अभ्यास कराये। अक्षराभ्यास कराने के उपरान्त माता सामाजिक

तथा पारिवारिक आचार सिखाने वाले शास्त्रीय वचनों को कण्ठस्थ करावे। इस सबके अतिरिक्त माता सन्तान को भूत, प्रेत, माता, शीतलादेवी, गण्डा, ताबीज आदि अन्धविश्वासपूर्ण, छलभरी तथा धोखाधड़ी की बातों से उसे सचेत करे तथा उस पर उसे विश्वास न करने दे। स्वामी जी ने इन अन्धविश्वास की बातों का विस्तृत तथा रोचक शैली में वर्णन किया है। बाल्यावस्था में अन्धविश्वास-विरोधी संस्कार डाल देने से वे बद्धमूल हो जायेंगे। इसके अतिरिक्त माता का यह भी कर्तव्य है कि बालक को वीर्यरक्षा का महत्व बताये। वीर्यरक्षा का महत्व जिन शब्दो में माता बताये उनका भी स्वामी जी ने निर्देश कर दिया है। हम उन्हें अविकल भाव से उद्धृत करना उचित समझते हैं— 'देखो जिसके शरीर मे सुरक्षित वीर्य रहता है तब उसको आरोग्य, बुद्धि, बल, पराक्रम, बढके बहुत सुख की प्राप्ति होती है। इसके रक्षण मे यही रीति है कि विषयो की कथा, विषयी लोगो का सग, विषयो का ध्यान, स्त्री का दर्शन, एकान्त सेवन, सम्भाषण और स्पर्श आदि कर्म से ब्रह्मचारी लोग पृथक् रहकर उत्तम शिक्षा और पूर्ण विद्या को प्राप्त होवें। जिसके शरीर मे वीर्य नही होता वह नपुंसक, महा कुलक्षणी और जिसको प्रमेह रोग होता है वह दुर्बल, निस्तेज, निर्बुद्धि, उत्साह, साहस, धैर्य, बल, पराक्रमादि गुणो से रहित होकर नष्ट हो जाता है। जो तुम लोग सुशिक्षा और विद्या के ग्रहण, वीर्य की रक्षा करने में इस समय चूकोगे तो पुन इस जन्म में तुम को यह अमूल्य समय प्राप्त नहीं हो सकेगा। जब तक हम लोग गृह कर्मो के करने वाले जीते हैं तभी तक तुमको विद्या-ग्रहण और शरीर का बल बढ़ाना चाहिये।"

स्वामी जी ने पिता के दायित्व तथा भाग का स्पष्ट शब्दो में पृथक् उल्लेख नहीं किया परन्तु उनके इस निर्देश से कि ५ से ८ वर्ष तक की आयु तक सन्तान पिता से शिक्षण प्राप्त करे, पिता का कर्तव्य भी स्पष्ट हो जाता है। वस्तुत अन्धविश्वास-विरोधी संस्कारों का निराकरण तथा ब्रह्मचर्य-महिमा का प्रतिपादन पिता अधिक सुचारु रूप से कर सकता है। अतः स्वामी जी ने अन्त में माता के साथ पिता का भी उल्लेख कर दिया है।

स्वामी जी कहते हैं कि अध्ययन के विषय में लालन का कोई स्थान नहीं, वहाँ ताड़न ही अभीष्ट है। "उन्हीं की सन्तान विद्वान्, सभ्य और सुशिक्षित होते है जो पढाने में सन्तानों का लाड़न कभी नहीं करते किन्तु ताड़ना ही करते रहते हैं।" इस प्रकार स्वामी जी Spare the rod and spoil the child के सिद्धान्त में विश्वास रखते थे। उन्होंने महाभाष्य का प्रमाण भी दिया है—

सामृतैः पाणिभिर्घ्नन्ति गुरवो न विषोक्षितैः।
लालनाश्रयिणो दोषास्ताडनाश्रयिणो गुणाः॥

अर्थात् गुरुजन अमृतमय हाथों से ताड़ना करते हैं, विषाक्त हाथों से नहीं। भाव यह है कि गुरु की ताड़ना अमृत का प्रभाव करने वाली होती है, न कि विष का। लालन, प्रेम आदि से दुर्गुण पैदा होते हैं और ताड़न से शुभ गुणों की प्रतिष्ठा होती है। ताड़ना का वस्तुत अपना महत्व होता है। आज कल हम पब्लिक स्कूलो की पढाई को बहुत अच्छा समझते हैं। वहाँ ताड़न निषिद्ध नही है। स्वामी जी के इस विचार को अशुद्ध नही कहा जा सकता। परन्तु स्वामी जी यह लिखना न भूले कि "माता, पिता तथा अध्यापक लोग, ईर्ष्या, द्वेष से ताड़ना न करें। किन्तु ऊपर से भय प्रदान तथा भीतर से कृपा दृष्टि रखे।" कबीर का निम्नलिखित दोहा इसी तथ्य को स्पष्ट करता है—

गुरु कुम्हार सिष कुम्भ है, गढि गढि काढे खोट।
अन्तर हाथ सहार दै, बाहर बाहै चोट॥

इसके बाद स्वामी जी ने लिखा हैं कि आचार्य सत्याचरण की शिक्षा शिष्य को दे। सत्याचरण बहुत व्यापक शब्द है। इस शब्द में समस्त नैतिक तथा सामाजिक व्यवहार की मर्यादायें अन्तर्भूत हो जाती है। शिष्य को सच्चे अर्थो मे सामाजिक व्यवहार की शिक्षा देने का दायित्व आचार्य पर है। आचार्य ही उसे सामाजिक दृष्टि से उपयोगी बना सकता है। इसके अतिरिक्त शिष्य को गम्भीर ज्ञान की प्राप्ति तो आचार्य करायेगा ही। परा विद्या तथा अपरा विद्या में शिष्य को पारंगत करना उसका कर्तव्य है।

एक और महत्त्वपूर्ण बात की ओर सकेत करते हुए स्वामी जी ने तैत्तिरीय

उपनिषद् का निम्नलिखित वचन उद्धृत किया है—

'यान्यस्माक सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि नो इतराणि।'

अर्थात् शिष्य को उचित है कि वह माता, पिता तथा आचार्य के शुभ कार्यों का अनुकरण करे, अन्यों का नही। उक्त तीनो शिक्षक भी उसे यही उपदेश करें। मानव सुलभ त्रुटियाँ सभी में होती हैं। माता, पिता तथा आचार्य भी इसके अपवाद नहीं हो सकते। अत. शिष्य को अपने विकास में उपयोगी सब गुणो को अपने तीनो शिक्षकों से ग्रहण कर लेना चाहिये।

स्वामी जी ने यह भी लिखा है कि सामान्य व्यवहार की छोटी-छोटी बातें भी यह शिक्षकत्रय शिष्य को बतायें। इन छोटी-छोटी बातों का सुन्दर संकलन मनु के निम्नलिखित श्लोक मे है—

दृष्टिपूत न्यसेत्पाद, वस्त्रपूत जलं पिबेत्।
सत्यपूतां वदेद्वाच, मन पूतं समाचरेत्॥

अन्त मे स्वामी जी लिखते है कि अपनी सन्तान को तन, मन, धन से विद्या, धर्म, सभ्यता और उत्तम शिक्षा-युक्त करना माता पिता का कर्तव्य कर्म, परम धर्म तथा कीर्ति का काम है।

चाणक्य नीति के निम्नलिखित श्लोक मे माता-पिता के उक्त दायित्व का इन शब्दो मे वर्णन किया गया है—

माता शत्रु पिता वैरी येन बालो न पाठित.।
न शोभते सभामध्ये हंसमध्ये बको यथा॥

इस प्रकार सत्यार्थप्रकाश के द्वितीय समुल्लास मे स्वामी जी ने शिक्षा-सम्बन्धी मौलिक बातो पर सक्षेप मे प्रकाश डाला है। उनकी स्थापनायें शास्त्रानुमोदित होने के साथ-साथ उपयोगितावादी व्यावहारिक कसौटी पर भी खरी उतरती है।

इस महान् ग्रन्थ के अध्ययन से मेरी विचार-धारा ही बदल गई। सोई हुई जाति के स्वाभिमान को जागृत करने वाला यह ग्रन्थ अद्वितीय है।

—हरदयाल एम. ए. पी. एच. डी.

अध्ययन और अध्यापन की ऋषि निर्दिष्ट विधि

●

सत्यार्थप्रकाश के तृतीय समुल्लास
के आधार पर

●

स्वामी समर्पणानन्द सरस्वती

●

बाह्य आवरण रत्नादि से मनुष्य शोभित नही होता अपितु "ज्ञान" दीप्ति उसे ज्योतित करती है। "ज्ञान" की प्राप्ति का प्रयत्न ही "अध्ययन" और प्राप्ति के लिए मार्ग-दर्शन "अध्यापन" है।

ऋषि ने सहशिक्षा का विरोध, समान रहन-सहन, अनिवार्य गुरुकुल-शिक्षा, ब्रह्मचर्य-पालन, व आर्ष पाठविधि पर बल देकर वेदोक्त ज्ञान-प्राप्ति पर इस समुल्लास मे विस्तार से विवेचन किया है।

गहरी-सूझ के धनी लेखक ने गागर मे सागर भरते हुए अपने लेख मे ऋषि-आदेश का स्पष्ट चित्र प्रस्तुत कर सभी को सत्य-ज्ञान-प्राप्ति के लिए उत्साहित किया है।

—*सम्पादक*

तीन

सत्यार्थप्रकाश के तृतीय समुल्लास में ऋषि ने इतनी बात कही हैं—

(१) सच्चा आभूषण विद्या है, वे ही सच्चे माता-पिता और आचार्य है, जो इन्ह आभूषणो से सन्तान को सजाते हैं।

(२) आठ वर्ष के हों तब ही लड़के-लड़कियों को पाठशाला में भेज देना चाहिए।

(३) द्विज अपने घर में लड़के-लडकियो का यज्ञोपवीत और कन्याओं का भी यथायोग्य सस्कार करके आचार्य कुल में भेज दें।

(४) लड़के-लडकियों की पाठशाला एक दूसरे से दूर हो तथा लड़कों की पाठशाला मे लड़के अध्यापक हो, लड़कियो की पाठशाला में सब स्त्री अध्यापिका हो, पाठशाला नगर से दूर हो।

(५) सबके तुल्य वस्त्र, खान-पान, आसन हों।

(६) सन्तान माता-पिता से तथा माता-पिता सन्तान से न मिलें, जिससे ससारी चिन्ता से रहित होकर केवल विद्या पढ़ने की चिन्ता रक्खें।

(७) राजनियम तथा जातिनियम होना चाहिए कि पाँचवें अथवा आठवे वर्ष से आगे कोई अपने लड़के-लडकियो को घर मे न रख सके।

(८) प्रथम लड़के का यज्ञोपवीत घर पर हो, दूसरा पाठशाला में आचार्य कुल मे हो।

(९) इस प्रकार गायत्री मंत्र का उपदेश करके सन्ध्योपासन की जो स्नान, आचमन, प्राणायामादि क्रिया हैं, सिखावें।

(१०) प्राणायाम सिखावें, जिससे बल, पराक्रम जितेन्द्रियता व सब शास्त्रो को थोड़े ही काल मे समझ कर उपस्थित कर लेगा, स्त्री भी इसी प्रकार योगाभ्यास करें।

(११) भोजन, छादन, बैठने, उठने, बोलने-चालने, बड़े-छोटे से व्यवहार करने का उपदेश करें।

(१२) गायत्री मन्त्र का उच्चारण, अर्थ-ज्ञान और उसके अनुसार अपने चाल-चलन को करे परन्तु यह जप मन से करना उचित है।

(१३) सन्ध्योपासन जिसको ब्रह्मयज्ञ कहते हैं, दूसरा देवयज्ञ जो अग्निहोत्र और विद्वानों के संग, सेवादि से होता है। संध्या और अग्निहोत्र सायं-प्रात दो ही काल में करें। ब्रह्मचर्य में केवल ब्रह्मयज्ञ और अग्निहोत्र ही करना होता हैं।

(१४) ब्राह्मण, ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य का उपनयन करे, क्षत्रिय दो का, वैश्य एक का; शूद्र पढ़े किन्तु उसका उपनयन करें, यह मत अनेक आचार्यों का है।

(१५) पुरुष न्यून से न्यून २५ वर्ष पर्यन्त ब्रह्मचारी रहे; मध्यम ब्रह्मचर्य ४४ वर्ष पर्यन्त तथा उत्कृष्ट ४८ वर्ष पर्यन्त ब्रह्मचर्य रक्खे।

जो (स्त्री पुरुष) मरण पर्यन्त विवाह करना ही न चाहें तथा वे मरण पर्यन्त ब्रह्मचारी रह सकते हों तो भले ही रहें। परन्तु यह बड़ा कठिन काम है।

(१६) 'ब्राह्मण भी अपना कल्याण चाहें तो क्षत्रियादि को वेदादि सत्यशास्त्रो का अभ्यास अधिक प्रयत्न से करावें।

क्योंकि—

क्षत्रियादि को नियम में चलाने वाले ब्राह्मण और सन्यासी तथा ब्राह्मण और संन्यासी को सुनियम मे चलाने वाले क्षत्रियादि होते हैं।

(१७) पाठविधि व्याकरण को पढ़ के यास्कमुनिकृत निघण्टु और निरुक्त छः वा आठ महीने मे सार्थक पढ़ें, इत्यादि।

(१८) ब्राह्मणी और क्षत्रिया को सब विद्या, वैश्या को व्यवहार-क्रिया और शूद्रा को पाकादि सेवा की विद्या पढ़नी चाहिए जैसे पुरुषो को व्याकरण

धर्म्म और व्यवहार की विद्या न्यून से न्यून अवश्य पढ़नी चाहिये; वैसे स्त्रियों को भी व्याकरण धर्म्म, वैद्यक, गणित, शिल्प-विद्या तो अवश्य ही सीखनी चाहिये।

इन १८ सूत्रों को मै तृतीय समुल्लास के १८ अग कहूँगा और अति सक्षेप से इसमें दिये हुए बीजो को अंकुरित करने का प्रयास ही किया जा सकता है और वही किया जायगा।

प्रथम यदि इन पर सूक्ष्म दृष्टि से विचार करें तो इनका विभाग इस प्रकार है—

प्रथम दो अंग माता-पिता के प्रति उपदेश हैं। तीसरा जाति-नियम द्वारा गुरु-शिष्य के सामीप्य का समर्थक है। चौथा शिक्षा-शास्त्र-सम्बन्धी नियम है जो ब्रह्मचर्य की रक्षार्थ है। पांचवां बच्चों मे समानता तथा सरल जीवन का आधार है। छठा शिक्षा-शास्त्र-सम्बन्धी नियम है जो निश्चितता उत्पन्न करके गुरु-शिष्य में सामीप्य की पुष्टि करता है। सातवां राजनियम तथा जाति-नियम द्वारा मोह का निराकरण तथा गुरु-शिष्य के सामीप्य का और अतएव सामीप्य का स्तम्भ रूप है। आठवां सामाजिक नियम द्वारा गुरु-शिष्य के सामीप्य का पोषक है। नवां संध्योपासन द्वारा ईश्वराधीनता का अर्थात् सच्ची स्वाधीनता का शिक्षा में प्रवेश कराना है। दसवां तथा ११ वां बच्चों को सच्ची दिनचर्या द्वारा संयम सिखाना है। १२ वां विनीत भाव सिखा कर सयम की पुष्टि करता है। १३ वां १४ वां भी सकल्प अथवा व्रत द्वारा संयम का सच्चारूप उपस्थित करता है। १५ वां भी ब्रह्मचर्य न्यून से न्यून कितना हो यह बता कर सयम को व्यावहारिक रूप देता है। १६ वें सूत्र मे ब्राह्मण तथा क्षत्रियादि का परस्पर नियन्त्रण है। १७ वें सूत्र मे व्रतचर्या के लिए समय कैसे मिले इसलिए आनुपूर्वी नाम का शिक्षा शास्त्र का महान् रहस्य दिया गया है। यथा अठारहवें में चारों वेदों के अध्ययन की लम्बी पाठविधि को यथायोग्य रूप से हर ब्रह्मचारी के बलाबल को देखकर पाठविधि कैसे बनाई जाय इसकी कुञ्जी दी गई है।

शिक्षा का उद्देश्य

इस प्रकार इन अठारह अङ्गों के परस्पर सम्बन्ध की रूपरेखा देकर हम इन पर दार्शनिक विवेचन आरम्भ करते हैं। सबसे प्रथम यह देखना है कि

शिक्षा का उद्देश्य क्या है। ऋषि ने शिक्षा का उद्देश्य भर्तृहरि महाराज के "विद्याविलासमनसो धृतशीलशिक्षा" इस श्लोक का उद्धरण देकर किया है। श्लोक का अनुवाद ऋषि के ही शब्दो मे इस प्रकार है—

जिन पुरुषो का मन विद्या के विलास मे मग्न रहता सुन्दरशील स्वभाव-युक्त सत्यभाषणादि नियम पालन युक्त और जो अभिमान अपवित्रता से रहित अन्य की मलिनता के नाशक सत्योपदेश और विद्या दान से संसारी जनो के दु खो को दूर करने वाले वेदविहित कर्मों से पराये उपकार करने में लगे रहते हैं वे नर और नारी धन्य हैं ?

बस इस प्रकार के धन्य पुरुष उत्पन्न करना शिक्षा का उद्देश्य है।

भर्तृहरि की खान—ऋषि दयानन्द सा जौहरी, क्या रत्न ढूंढकर निकाला है।

पहला ही शब्द ले लीजिये विद्याविलासमनसः हमें छात्रों को ब्रह्मचारी बनाना है। ब्रह्मचारी के दो ही भोजन हैं; एक विद्या, दूसरा परमात्मा। इस भोजन को कभी-कभी खा लेने से वह ब्रह्मचारी नहीं बन सकता। जिस प्रकार विलासी मनुष्य यदि वह भोजन का विलासी है, तो उसमे नए से नए रुचिकर व्यञ्जनों का आविष्कार करता रहता है, यदि रूप का विलासी है तो नए से नए शृङ्गारों का आविष्कार करने मे ही उसका मन लगा रहता है उसी प्रकार जब विद्या उसके लिए एक विलास की वस्तु बन जाय तब ही तो वह ब्रह्मचारी बन सकेगा। परन्तु यह विद्या में रति बिना शील शिक्षा के नहीं प्राप्त हो सकती। शील शिक्षा भी वह जो पूर्णतया धारण कर ली गई हो, अडिग हो, अविचल हो। इसके लिए उसका व्रत धारण करना आवश्यक है। परन्तु ब्राह्मण व क्षत्रियादि के व्रत निश्चल तब ही हो सकते हैं, जब वह सत्य व्रत हो, यह व्रतपरायणता बिना अभिमान दूर किये नही हो सकती और अभिमान की परम चिकित्सा है प्रभु भक्ति;वह अभिमान ही नहीं और सब मलों को भी दूर करने वाली है। इस भक्ति का आरम्भ होता है, संसार के दुःख दूर करने में ही गौरव मानने से। दु ख दूर करने से तो भक्ति का मार्ग आरम्भ होता हैं। परन्तु उसका पूर्ण चमत्कार तो दु ख दूर करके सच्चा सुख प्राप्त कराने से होता है। यही सबसे बड़ा परोपकार है।

परन्तु दुःखों का निराकरण तथा सच्चे सुख की प्राप्ति का उपाय जाना जाता है वेद से। उसी ने इसका विधान किया है। वेदविहित कर्मों का ठीक ज्ञान न होने से अज्ञानी मनुष्य परोपकार की भावना से प्रेरित होकर भी अपकार ही तो करेगा, इसलिये विहित कर्मों से ही परोपकार होता है। चलो इन विहित कर्मों के ज्ञान के लिए वेद-वेदाङ्ग का ज्ञान प्राप्त करें। यही शिक्षा का आरम्भ है इसीलिए कहा—

विद्याविलासमनसो धृतशीलशिक्षाः,
सत्यव्रता रहितमानमलापहाराः,
संसारदुःखदलनेनसुभूषिता ये,
धन्या नरा विहितकर्मपरोपकाराः॥

इस प्रकार के धन्य मनुष्य इस प्रकार के गुरु के पास पहुँचे बिना कैसे प्राप्त हो सकते हैं। इसलिए माता-पिता को उपदेश दिया (१) सांसारिक आभूषणों के मोह को तथा उसके मूल सन्तान के मोह को छोड़ो, सन्तान से प्रेम करना सीखो। यहाँ सबसे पहले मोह और प्रेम में भेद करना सीखना है। अनुराग के दो अङ्ग है हितसन्निकर्षयोरिच्छानुरागः इनमें सन्निकर्ष अर्थात् प्रेमपात्र के वियोग को न सहन करना तथा समीप होने की इच्छा जितनी प्रबल होगी उतना ही प्रेम मोह की ओर भागेगा और जितनी हितेच्छा प्रबल होती जायगी उतना ही अनुराग प्रेम की ओर उठता जायगा। यदि सन्निकर्षेच्छा न हो तो माता बच्चे के लिए रातों जाग नही सकती। परन्तु हितेच्छा न हो तो गुरुकुल नहीं भेज सकती। इसीलिए कहा कि पाँचवे वर्ष तक सन्निकर्षेच्छा समाप्त हो ही जानी चाहिए। यदि सन्तान की दुर्बलता आदि किसी अन्य कारण से सन्तान का माता-पिता के पास रहना आवश्यक भी हो तो ८ वें वर्ष तक तो राज-नियम से बच्चे को माता-पिता से पृथक् कर ही देना चाहिए। यही नही गुरु के पास जाने पर मोहवृद्धि कारक माता-पिता का मिलना तथा पत्र-व्यवहार आदि भी बन्द हो; जिससे गुरु शिष्य मे वह सामीप्य उत्पन्न हो जाय, जिसका वेद ने इन शब्दों मे वर्णन किया है—

आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणम् कृणुते गर्भमन्तः।

(अथर्व० ११ काण्ड)

हमें विद्यार्थियों को न्याय सिखाना है। इसलिये सबसे पहले उनके साथ न्याय होना चाहिये। न्याय के दो सिरे हैं, निर्णय के पूव समान व्यवहार, निर्णय के पश्चात् यथायोग्य व्यवहार। शिक्षा के आरम्भ-काल मे निर्णय नहीं नही हो सकता। इसलिए उस काल मे सबको तुल्य वस्त्र, खान-पान, आसन दिये जावे। इस प्रकार सच्ची समानता उत्पन्न की गई है।

यह समानता दो प्रकार से उत्पन्न की जा सकती है। एक नाना प्रकार के ऐश्वर्य की सामग्री सबको देकर, दूसरे सबको तपस्वी बना कर। राजा के पुत्र को अपरिग्रही के समान रखकर अथवा अपरिग्रही को राज-तुल्य वैभव देकर। परन्तु ब्रह्मचर्य जिनकी शिक्षा का आधार है, वे सरलता द्वारा ही समानता उत्पन्न करेंगे इसलिये तप तथा अपरिग्रह की शिक्षा दी गई है।

शिक्षा का तीसरा आधार स्वाधीनता है, परन्तु स्वाधीनता वस्तुतः ईश्वराधीनता से प्राप्त होती है। जो अपने आपको ईश्वर के अधीन कर देता है, वह फिर न प्रकृति के अधीन होता है न विषयों के। जिस प्रकार स्वेच्छापूर्वक स्वयं चुने हुए विमान पर चढ़ने से मनुष्य की गति में तीव्रता तो अवश्य आ जाती है। इसी प्रकार स्वेच्छापूर्वक प्रभु समर्पण द्वारा मनुष्य अनन्त शक्ति का स्वामी तो हो जाता है। परन्तु पराधीन नही होता, इसीलिये ऋषि दयानन्द ने इस समुल्लास मे शिक्षा का आरम्भ सन्ध्योपासन से किया है। इसी प्रकार देव यज्ञ की व्याख्या में उन्होने देवयज्ञ के दो रूप दिये हैं। एक अग्निहोत्र दूसरा विद्वानों का संगसेवादि। गुरु के तथा विद्वानो के संगसेवादि से मनुष्य स्व को पहिचानता है। जिसने स्व को ही नहीं पहिचाना, वह स्वाधीन क्या होगा? स्वाधीन शब्द का दूसरा अर्थ आत्मीयो की अधीनता है। जीव का सबसे बड़ा आत्मीय उस वात्सल्य सागर प्रभु से बढ़ कर कौन हो सकता है, सो संध्योपासन तथा अग्निहोत्र दोनो ही मनुष्य को सच्चे अर्थो मे स्वाधीनता दिलाने वाले है। अब हम संयम की ओर आते हैं, यह ब्रह्मचर्याश्रम है, हमें शक्ति के महास्रोत तक पहुँचना है, वहीं सुख है, वहीं शान्ति है, वहीं नित्यानन्द है, नित्य कैसे, मनुष्य का सुख दो प्रकार समाप्त हो जाता है। भोग्य पदार्थ की समाप्ति से या भोक्ता की रसास्वादन शक्ति की समाप्ति से; परन्तु जब जीव

प्रकृति के माध्यम बिना सीधा प्रभु से रस लेने लगता है तो न भोग्य सामग्री समाप्त होती है, न भोक्ता की रसास्वादन शक्ति; बस इस अवस्था तक प्राणि-मात्र को पहुँचाने के लिए मनुष्य मात्र को जीव और ईश्वर के बीच आने वाले व्यवधानो से पूर्णतया मुक्त करके कैवल्य (Onlyness) तक पहुँचाना ही शिक्षा का उद्देश्य है। यह उद्देश्य इस समुल्लास में किस प्रकार पूरा किया गया है, अब हमे यह देखना है।

शिक्षा का केन्द्र : आचार

सबसे प्रथम जो बात समझने की है वह यह है कि वैदिक शिक्षा-पद्धति में शिक्षा का केन्द्र आचार शक्ति है, विचार शक्ति नहीं, इसीलिये वैदिक भाषा में गुरु को आचार्य कहते है, विचार्य नही, विचार साधन है, आचार साध्य है। क्योंकि इसके द्वारा ही मनुष्य ब्रह्म मे विचरता-विचरता पूर्णतया ब्रह्मचारी हो जाता है और जब तक वह इस ध्येय तक नही पहुँच जाता है, तब तक के लिए उसे एक ही आज्ञा है "चरैवेति चरैवेति"।

परन्तु विचार का क्षेत्र उसका चरने का क्षेत्र है। वह नाना प्रकार के विषयों मे इन्द्रियो द्वारा विचरता हुआ विषयरूपी घास से ज्ञानरूप दूध बनाता रहता है। परन्तु व्रत के खूँटे से बँधा होने के कारण कभी गोष्ठ-भ्रष्ट अथवा देवयूथ भ्रष्ट नही होने पाता, इन्द्रियो का क्षेत्र उसके चरने का क्षेत्र है। परन्तु व्रत उसके बधने का स्थान है। वह व्रत का खूँटा भगवान् में गड़ा रहता है। इस लिए वह कभी भ्रष्ट नहीं होने पाता। इसीलिये इस शिक्षा-पद्धति मे उसका दो बार यज्ञोपवीत किया जाता है। एक माता-पिता के घर मे, दूसरा आचार्य-कुल मे। ब्राह्मण को संसार मे अविद्या के नाश तथा सत्य के प्रकाश का व्रत धारण करना है।

क्षत्रिय को अन्याय के नाश तथा न्याय की रक्षा का व्रत धारण करना है। वैश्य को दारिद्र्य के नाश तथा प्रजा की समृद्धि की रक्षा का व्रत धारण करना है। इस यज्ञ अर्थात् लोकहित के व्रत के खूँटे के साथ बधना है, इसीलिए इस बधन का नाम यज्ञोपवीत है अर्थात् वह रस्सा जो मनुष्य को लोकहित के व्रत

के खूँटे के साथ बाँधने के लिए बनाया गया हो, प्रथम यज्ञोपवीत में माता-पिता उसे किस खूँटे के साथ बाँधना चाहते हैं उनकी इस इच्छा का प्रकाश है।

परन्तु यह वर्ण है, स्वेच्छापूर्वक चुना जाने वाला व्रत है, इसलिए आचार्य की अनुमति से ब्रह्मचारी इसे बदल भी सकता है। इसलिए आचार्य कुल में दूसरी बार यज्ञोपवीत किया जाता है। इस व्रत का मूल्य मनुष्य समाज ने सेना में तथा गृहस्थाश्रम मे तो जाना है। ससार का हर सैनिक किसी न किसी रूप में झण्डे के सामने शपथ लेता है और हर दम्पती किसी न किसी रूप में एक दूसरे के साथ बँधे रहने की शपथ लेते हैं। परन्तु इस शपथ का लाभ शिक्षा-शास्त्र में लेना यह केवल वैदिक लोगो को ही सूझा। इसके बिना शिक्षा लक्ष्यहीन तीर चलाने के समान है। कोई तीर अचानक लक्ष्य पर भी जा लगता है।

विद्याभ्यास कैसे ?

अब आइये विद्याभ्यास की ओर। इस क्षेत्र मे सबसे प्रथम तो मनुष्य को प्रत्यक्षादि प्रमाणो द्वारा परीक्षा करने का ज्ञान होना चाहिए, फिर भाषा का, फिर अन्य शास्त्रों का; यही क्रम यहाँ रक्खा गया है। परन्तु सबसे अधिक ध्यान देने योग्य बात यह है कि इस क्रम मे आनुपूर्वी है। पहले व्याकरण पढ़े फिर निरुक्त छन्द आदि—यह आनुपूर्वी क्यो रक्खी गई है। आजकल की शिक्षा-पद्धति मे एक विद्यार्थी प्रतिदिन ८ या १० विषय तक पढ़ता है। इस प्रणाली मे उसे गुरु-सेवा, आश्रम-सेवा चरित्र-निर्माण आदि के लिये कोई समय ही नहीं मिलता। इसलिये प्रतिदिन मुख्य रूप से लगातार कुछ समय तक–एक समय तक एक विषय को पढ कर समाप्त करे, फिर दूसरा विषय आरम्भ करे। इस क्रम से पढने से उसे गुरु-सेवा, पशु-पालन, चरित्र-निर्माण इन सबके लिए पूरा समय मिलता है और इस प्रकार शिक्षा के मुख्य अंग आचार-निर्माण की पूर्णता होती है; जिससे आचार्य (आचारं ग्राहयति) को आचार्यत्व प्राप्त होता है।

यहाँ एक बात और ध्यान देने योग्य है। ऋषि ने लिखा है कि पुरुषो को व्याकरण, धर्म्म और एक व्यवहार की विद्या न्यून से न्यून अवश्य सीखनी चाहिए।

इस अत्यन्त मूल्यवान पंक्ति की ओर ध्यान न देने से आज आर्ष पद्धति

के नाम पर सहस्रों विद्यार्थियों के जीवन नष्ट हो रहे है ।

ऋषि ने चारो वेदो की पाठविधि तो दी है, परन्तु चारो वेदों का पण्डित होना हर एक विद्यार्थी के लिये आवश्यक नही ठहराया, उलटा मनु का प्रमाण देकर लिखा है—

षट्त्रिंशदाब्दिके चर्यं गुरौ त्रैवेदिकं व्रतम् ।
तदर्धम् पादिकं वा ग्रहणान्तिकमेव वा ।।

ब्रह्मचर्य ३६ वर्ष, १८ वर्ष अथवा ९ वर्ष का अथवा जितने मे विद्या ग्रहण हो जावे उतना रक्खे ।

इसको पुरुषों को व्याकरण, धर्म्म तथा एक व्यवहार की विद्या के साथ मिला कर पढ़िये । इसका भाव यह है कि व्याकरण तथा धर्म्म-शास्त्र पढ़ना सबके लिए आवश्यक है । सो धर्म्म-ज्ञान के लिए जितना व्याकरण पढना आवश्यक है, सो तो सब पढ़ें; इससे विशेष व्याकरण उस विद्या को दृष्टि मे रख कर पढें जो उसकी व्यवहार की विद्या है । इसलिए जिसे विद्युत् शास्त्र अथवा भौतिक विज्ञान अथवा इतिहास पढ़ना है, उसे महाभाष्य पर्यन्त व्याकरण पढ़ना क्यो आवश्यक है । यह बिल्कुल समझ मे नही आता। परन्तु आजकल आर्ष पद्धति के नाम पर जो सब बालको को जबरदस्ती महाभाष्य पढ़ाया जाता है, इससे उन विद्यार्थियो मे से बहुतों का जीवन नष्ट होता है, और आर्ष पद्धति व्यर्थ बदनाम होती है । ऋषि ने अधिकतम और न्यूनतम दोनों पाठ-विधि दे दी हैं, विद्यार्थी की उचित शक्ति के अनुसार हर विद्यार्थी का पृथक्-पृथक् पाठ्य-क्रम होना चाहिये । इसीलिए गुरु-शिष्य का सदा एक साथ रहना आवश्यक समझा गया है । जिससे गुरु-शिष्य की रुचि तथा शक्ति दोनो की ठीक परीक्षा करके यथायोग्य पाठविधि बना सके । यहाँ यथायोग्यवाद के स्थान में साम्यवाद का प्रयोग अत्यन्त हानिकारक सिद्ध हो रहा है ।

अन्त मे हम इस बात की ओर फिर ध्यान दिलाना चाहते है कि वैदिक शिक्षा-पद्धति में संयम अर्थात् ब्रह्मचर्य का स्थान विद्या से ऊँचा माना गया

है ? सयमहीन शिक्षा कुशिक्षा है। इसलिए संध्योपासन, आनुपूर्वी का पाठ्य-क्रम तथा यज्ञोपवीत सस्कार तीनो ही विद्यार्थी को परमात्मा का भक्ति-दान करके ब्रह्मचारी बना देते है। इस संयम की जितनी महिमा गाई जाय सो थोडी है। इस प्रकार यह १८ के १८ अंग जो इस समुल्लास मे पाँच सकारों मे परिणत हो जाते हैं, उन पाँच सकारो के नामोल्लेख के साथ ही इस लेख को समाप्त करते है—

समानता सरलता सामीप्यम् गुरुशिष्ययोः
स्वाधीन्य सयमञ्चैव सकाराः पञ्च सिद्धिदाः

ऋषि ने अपने देशवासियो तथा समस्त विश्व को सत्यार्थप्रकाश के रूप मे जो अविनश्वर वसीयत दी है, वह उसकी प्रकाण्ड प्रतिभा का प्रतीक है। इस ग्रन्थ में वह हमारे सम्मुख एक उत्पादक कलाकार, समीक्षक, सहारक तथा निर्माता के रूप में प्रकट हुआ है।

—श्री श्यामाप्रसाद मुखर्जी

गृहस्थ आश्रम की सफलता के उपाय

•

सत्यार्थप्रकाश के चतुर्थ समुल्लास
के आधार पर

•

प्रो० रामसिंह एम० ए०

•
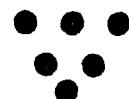
मानव जीवन की सम्पूर्ण गतिविधि का आधार 'गृहस्थ' है। इसका प्रभाव सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक समस्याओ को भी प्रभावित करता है,ऐसा आधुनिक समाज-विज्ञान के पडित भी स्वीकार करते है।

तप द्वारा शरीर, ज्ञान द्वारा मस्तिष्क की पूर्ण विकसित अवस्था के पश्चात् समान गुण, कर्म, स्वभाव की कन्या से, स्वेच्छया किन्तु माता-पिता एवं गुरु की अनुमति से विवाह कर, एक दूसरे का आदर करते हुए प्रेमपूर्वक श्रेष्ठ सन्तान के निर्माण को लक्ष्य रख निर्वाह और समाज के प्रति दायित्वो के वहन का मार्ग-दर्शन चतुर्थ समुल्लास का मुख्य प्रतिपाद्य विषय है।

अनुभवी विद्वान् लेखक ने स्पष्ट प्रकार से ऋषि के मतव्यो को लेख मे प्रस्तुत कर जीवन की सफलता का मार्ग दिखाया है।

—सम्पादक

आमुख

वैदिक आश्रम मर्यादा में गृहस्थाश्रम दूसरा आश्रम है। इसे यदि चारों आश्रमों का आधार कहा जाये तो अत्युक्ति न होगी। इस आश्रम की सफलता के लिए आवश्यक है कि आश्रम मे प्रवेश के इच्छुक यथावत् ब्रह्मचर्य मे आचार्यानुकूल वर्त कर, धर्म से चारो वेद, तीन व दो अथवा एक वेद को सांगोपाग पढ कर अखण्डित-ब्रह्मचर्य पुरुष वा स्त्री गुरु की यथावत् आज्ञा लेकर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य अपने वर्णानुकूल सुन्दर-लक्षणयुक्त कन्या से विवाह करें।

उत्तम कुल के लड़के और लडकियो का आपस में विवाह होना चाहिए। जो कुल सत्क्रिया से हीन और सत्पुरुषो से रहित हों तथा जिनमे ववासीर, क्षय, दमा, मिरगी, श्वेतकुष्ठ और गलितकुष्ठादि भयानक रोग हो, उनकी कन्या वा वर के साथ विवाह होना अनुचित है—क्योकि इस प्रकार के विवाहों से यह सब दुर्गुण और रोग अन्य कुलो मे भी प्रविष्ट हो जाते हैं।

कन्या पिता के गोत्र की नही होनी चाहिए तथा माता के कुल की छः पीढियो भी न हो। साथ ही कन्या का विवाह दूर देश में होने से हितकारी होता है, निकट रहने मे नही। दूरस्थो के विवाह मे अनेक लाभ हैं, तथा निकट विवाह होने में अनेक हानियो की सम्भावना रहती है।

जब स्त्री-पुरुष विवाह करना चाहे, तब विद्या, विनय, शील, रूप, आयु,

बल, कुल, शरीर का परिमाण आदि यथायोग्य होना चाहिये, जब तक उपर्युक्त गुणों में मेल नही होता, तब तक गृहस्थाश्रम मे कुछ भी सुख नहीं मिलता।

बाल्यावस्था मे तो विवाह करने से सुख होता ही नहीं। जिस देश मे ब्रह्मचर्य-विद्या-ग्रहण रहित बाल्यावस्था और अयोग्यो का विवाह होता है—वह देश दुःख मे डूब जाता है तथा जिस-जिस देश में विवाह की श्रेष्ठ विधि और ब्रह्मचर्य-विद्याभ्यास अधिक होता है वह देश सुखी और समृद्ध होता है। सोलहवें वर्ष से लेके चौबीसवें वर्ष तक कन्या और पच्चीसवें वर्ष से लेके अड़तालीसवें वर्ष तक पुरुष का विवाह-समय उत्तम है। इसमे जो सोलह और पच्चीस वर्ष मे विवाह करे तो निकृष्ट, अठारह वर्ष की स्त्री, तीस, पंतीस व चालीस वर्ष के पुरुष का विवाह मध्यम, चौबीस वर्ष की स्त्री और अड़तालीस वष के पुरुष का विवाह होना उत्तम है।

ब्रह्मचर्य विद्या के ग्रहणपूर्वक, विवाह के सुधार ही से, सब बातो का सुधार और बिगाड़ने से बिगाड़ हो जाता है।

चाहे लड़का-लड़की मरण पर्यन्त कुँवारे रहे। परन्तु असदृश अर्थात् परस्पर विरुद्ध गुण-कर्म स्वभाव वालो का विवाह कभी न होना चाहिए।

परस्पर-सहमति

विवाह लड़का-लड़की की प्रसन्नता के बिना न होना चाहिये—क्योंकि एक दूसरे की प्रसन्नता से विवाह होने मे विरोध बहुत कम और सन्तान उत्तम होते हैं। अप्रसन्नता के विवाह मे नित्य क्लेश ही रहता है। विवाह मे मुख्य प्रयोजन वर और कन्या का है, माता-पिता का नहीं, क्योंकि जो उनमे परस्पर प्रसन्नता रहे तो उन्ही को सुख और विरोध में उन्ही को दु.ख होता है। इसलिये जैसी स्वयवर की रीति आर्यावर्त में परम्परा से चली आती थी, वही उत्तम है।

जब तक सब ऋषि-मुनि, राजा-महाराजा और अन्य आर्य लोग ब्रह्मचर्य से विद्या पढ़ के ही स्वयंवर विवाह करते थे, तब तक इस देश की सदा उन्नति होती थी। जब से यह ब्रह्मचर्य से विद्या का न पढ़ना, बाल्यावस्था में पराधीन अर्थात् माता-पिता के आधीन विवाह होने लगे तब से क्रमश. आर्यावर्त्त देश की हानि होती चली आयी। इससे इस दुष्ट काम को छोड़ कर सज्जन लोग पूर्वोक्त प्रकार से स्वयवर विवाह किया करें। सो विवाह वर्णानुक्रम से करें।

कई एक लोग आपत्ति करते हैं कि विवाह-बंधन में केवल दुःख भोगना पड़ता है, इसलिए यह क्यों न हो कि जिसके साथ जिसकी प्रीति हो तब तक मिले रहे, प्रीति छूट जाने पर एक दूसरे को छोड़ देवें। परन्तु इस प्रकार करने को हम पशु-पक्षी का व्यवहार मानते है, मनुष्यों का नहीं। जो मनुष्यों में विवाह का नियम न रहे, तो गृहस्थाश्रम के अच्छे-अच्छे व्यवहार नष्ट-भ्रष्ट हो जायें। कोई किसी की सेवा भी न करे और महा व्यभिचार बढ़ कर सब रोगी, निर्बल और अल्पायु हो शीघ्र ही मर जाये। भय-लज्जा भी न रहे। वृद्धावस्था में कोई सेवा न करे। कोई किसी के पदार्थों का स्वामी वा दायभागी भी न हो सके और न ही किसी का किसी पदार्थ पर दीर्घकाल पर्यन्त स्वत्व रहे। इन दोषों के निवारणार्थ विवाह ही होना सर्वथा योग्य है।

यह भी स्मरण रहे कि एक समय मे एक ही विवाह उचित है। परन्तु समयान्तर में अनेक विवाह भी हो सकते हैं। जिस स्त्री या पुरुष का पाणिग्रहणमात्र संस्कार हुआ हो और संयोग न हुआ हो—अर्थात् अक्षतयोनि स्त्री और अक्षतवीर्य पुरुष हो, उनका ऐसी ही अन्य स्त्री वा पुरुष के साथ पुनर्विवाह होना चाहिए।

विवाह-प्रयोजन

स्त्री और पुरुष की सृष्टि का यही प्रयोजन है कि धर्म से अर्थात् वेदोक्त रीति से सन्तानोत्पत्ति करना। ईश्वर के सृष्टिक्रमानुकूल स्त्री पुरुष का स्वाभाविक व्यवहार रुक ही नहीं सकता, सिवाय वैराग्यवान् पूर्ण विद्वान् योगियों के। संसार मे व्यभिचार और कुकर्म को रोकने का श्रेष्ठ उपाय यही है कि जो जितेन्द्रिय रह सकें वह विवाह भी न करे तो भी ठीक, परन्तु जो ऐसे नहीं हैं, उनका वेदोक्त रीति से विवाह अवश्य होना चाहिये। आपात्काल में नियोग भी आवश्यक है। इसी से व्यभिचार न्यून, प्रेम से उत्तम सन्तान, स्वस्थ मनुष्यों की वृद्धि सम्भव है।

विवाह के प्रकार

विवाह आठ प्रकार का होता है। एक ब्राह्म, दूसरा दैव, तीसरा आर्ष, चौथा प्राजापत्य, पाँचवां आसुर, छठा गान्धर्व, सातवां राक्षस, आठवां पैशाच।

इन विवाहों की यह व्यवस्था है कि वर कन्या दोनों यथावत् ब्रह्मचर्य से पूर्ण विद्वान्, धार्मिक और सुशील हों, उनका परस्पर प्रसन्नता से विवाह होना 'ब्राह्म' कहाता है। विस्तृत यज्ञ करने मे ऋत्विक् कर्म करते हुए जामाता को अलंकार युक्त कन्या का देना "दैव"। वर से कुछ लेकर विवाह होना "आर्ष"। दोनो का विवाह धर्म की वृद्धि के अर्थ होना "प्राजापत्य"। वर और कन्या को कुछ देके विवाह होना "आसुर"। अनियम, असमय किसी कारण से वर कन्या का इच्छापूर्वक परस्पर सयोग होना "गान्धर्व"। लड़ाई करके बलात्कार अर्थात् छीन झपट वा कपट से कन्या का ग्रहण करना "राक्षस"। शयन व मद्यादि पी हुई पागल कन्या से बलात्कार सभोग करना "पैशाच"। इन सब विवाहो मे ब्राह्म विवाह सर्वोत्कृष्ट, दैव और प्राजापत्य मध्यम, आर्ष आसुर और गान्धर्व निकृष्ट, राक्षस अधम और पैशाच महाभ्रष्ट है। इसलिए यही निश्चय रखना चाहिए कि कन्या और वर का विवाह के पूर्व एकान्त मे मेल न होना चाहिए, क्योंकि युवावस्था मे स्त्री पुरुष का एकान्तवास दूषण-कारक है।

विवाह से पूर्व

जब कन्या वा वर के विवाह का समय हो तो उनके अध्यापक अथवा माता पिता उनके गुण, कर्म और स्वभाव की भली-भाँति परीक्षा कर लें। जब दोनो का निश्चय विवाह करने का हो जाय, तो यदि अध्यापको के समक्ष विवाह करना चाहे तो वहाँ, नहीं तो कन्या के माता-पिता के घर मे विवाह होना योग्य है। कन्या और वर के खान-पान का उत्तम प्रबन्ध वैवाहिक-विधि से पूर्व होना चाहिये जिससे उनका ब्रह्मचर्यव्रत और विद्याध्ययनरूप तपश्चर्या से दुर्बल शरीर चन्द्रमा की कला के समान बढ़के थोड़े ही दिनो मे पुष्ट हो जाये।

पश्चात् उपयुक्त समय वेदी और मण्डप रचके अनेक सुगन्धादि द्रव्य और घृतादि का होम करके वैदिक-विधि के अनुसार विद्वान् पुरुष और स्त्रियो के सामने पाणिग्रहणपूर्वक विवाह-विधि पूरी करें।

विवाह के पश्चात्

स्त्री और पुरुष अपने-अपने कर्तव्य को पूरी तरह समझें और जहाँ तक बन पड़े वहाँ तक ब्रह्मचर्य के वीर्य को व्यर्थ न जाने दें—क्योंकि उस वीर्य वा

रज से जो शरीर उत्पन्न होता है, वह अपूर्व उत्तम सन्तान होती है।

पुरुष वीर्य की स्थिति और स्त्री गर्भ की रक्षा और भोजन-छादन इस प्रकार करे, जिससे गर्भस्थ बालक का शरीर अत्युत्तम रूप, लावण्य, पुष्टि, बल, पराक्रमयुक्त होकर दशवें महीने मे जन्म होवे। विशेष उसकी रक्षा चौथे महीने से और अतिविशेष आठवें महीने से करना योग्य है। कभी गर्भवती स्त्री रेचक, रूक्ष, मादक द्रव्य, बुद्धि और बलनाशक पदार्थों का सेवन न करे, किन्तु घी, दूध, उत्तम चावल, गेहूँ, मूंग, उर्द आदि खान-पान देश-कालादि के अनुसार करे। चौथे महीने में पुंसवन सस्कार और आठवें महीने में सीमन्तोन्नयन विधि-अनुकूल करे।

सन्तान-पालन

बालक के जन्म के समय बालक और उसकी माता की सावधानी से रक्षा करनी चाहिये। शुण्ठीपाक और सौभाग्यशुण्ठीपाक प्रथम से ही तैयार रहना चाहिए। बालक और उसकी माता को सुगन्धियुक्त उष्ण जल से स्नान कराना भी उचित है। नाड़ी-छेदन यथा-विधि कराये। प्रसूति-गृह में सुगन्धादियुक्त घृत का होम करे। तत्पश्चात् बालक के कान में 'वेदोऽसि'— तेरा नाम वेद है' सुनाकर, पिता मधु और घृत से बालक की जीभ पर 'ओ३म्' लिखे और शलाका से उसे चटा दे।

पश्चात् बालक और उसकी माता को दूसरे शुद्ध स्थान पर बदल दें और वहाँ नित्य साय प्रातः सुगन्धित घी का हवन करें। बालक छ दिन तक माता का दूध पिये। छठे दिन स्त्री बाहर निकले। सन्तान के दूधादि के लिए यथावत् प्रबन्ध करें। समर्थ हो तो कोई धाय रख ली जाये। बालक के पालन-पोषण मे कोई अनुचित व्यवहार न हो।

पश्चात् नामकरणादि संस्कार "सस्कार-विधि" की रीति से यथाकाल करता जाये।

पुरुष के कर्तव्य

इस प्रकार स्त्री और पुरुष विधिपूर्वक गृहस्थ धर्म्म का पालन करते हुए संसार मे सुखपूर्वक रहे। पुरुष का कर्त्तव्य है कि सभी प्रकार से स्त्री को प्रसन्न रखे। जिस कुल में भार्या से भर्ता और पति से पत्नी अच्छे प्रकार प्रसन्न रहते

हैं, उसी कुल में सौभाग्य और ऐश्वर्य निवास करते हैं। जिस घर में स्त्रियों का सत्कार होता है, उसमें पुरुष विद्यायुक्त होकर देव संज्ञा को प्राप्त होते हैं और आनन्द करते हैं। जहाँ स्त्रियों का सत्कार नहीं होता, वहाँ सारी क्रियायें निष्फल हो जाती हैं।

स्त्री के कर्तव्य

स्त्री को भी योग्य है कि अति प्रसन्नता से घर के कामों में चतुराई युक्त सब पदार्थों के उत्तम संस्कार तथा घर की शुद्धि रखे और व्यय करने में भी संकोच से काम ले, अधिक उदारता न दिखावे। अर्थात् यथायोग्य खर्च करे। पाकादि भी इस भांति बनावे कि औषधरूप होकर शरीर और आत्मा में रोग न आने दे। आय-व्यय भी यथावत् रखे। घर के नौकर-चाकरों से यथायोग्य काम ले और घर के कार्यों में पूरी सावधानी बरते।

गृहस्थ के कर्तव्य

इस भांति गृहस्थाश्रम में स्त्री-पुरुष परस्पर प्रेमपूर्वक रहें। बुद्धि-धनादि की वृद्धि करने वाले शास्त्रों को नित्य सुनें, और सुनावें।

यथाविधि दिन और रात्रि की सन्धि में अर्थात् परमेश्वर का ध्यान और अग्निहोत्र अवश्य करना चाहिए।

पितृयज्ञ भी गृहस्थ का कर्तव्य कर्म है। श्रद्धा और भक्ति भाव से विद्यमान माता पिता आदि पितरों की सेवा करना ही पितृयज्ञ और श्राद्धतर्पण है। परम विद्वानों, आचार्यादि की सर्वप्रकार से सेवा करना ही ऋषि तर्पण है।

वास्तव में माता-पिता, स्त्री, भगिनी, सम्बन्धी आदि तथा कुल के अन्य कोई भद्र पुरुष या वृद्ध हो उन सब को अत्यन्त श्रद्धा से उत्तम अन्न, वस्त्र, सुन्दर यानादि देकर अच्छे प्रकार तृप्त करना, जिससे उनका आत्मा तृप्त और शरीर स्वस्थ रहे—यही श्राद्ध और तर्पण है।

चौथा 'वैश्वदेव' यज्ञ है। जब भोजन सिद्ध हो जाये, तब उसमें से खट्टा, लवणान्न और क्षार युक्त को छोड़कर घृत-मिष्ट युक्त अन्न लेकर मन्त्रों से आहुति दे दें। तथा कुछ भाग पत्ते या थाली में भी मन्त्रों से आहुति देते समय रखता जाय। यदि कोई अतिथि हो तो उसको दे दे, नहीं तो अग्नि में ही

छोड़ देवें। इसी प्रकार किसी दु:खी प्राणी अथवा कुत्ते, कव्वे आदि के लिये भी छ: भाग अलग रख दे—पश्चात् उनको दे दिये जायें।

अतिथि यज्ञ भी आवश्यक है। यदि अकस्मात् कोई धार्मिक, सत्योपदेशक, सब के उपकारार्थ सर्वत्र घूमने वाला पूर्ण विद्वान, परमयोगी, संन्यासी गृहस्थ के यहाँ आ जाये तो उसका यथाविधि सत्कार करना, खान-पानादि से सेवा-शुश्रूषा करना परम कर्त्तव्य है। समयानुसार गृहस्थ और राजादि भी अतिथिवत् सत्कार करने योग्य हैं। परन्तु पाखण्डी, वेदनिन्दक, वेदविरुद्ध आचरण करने वालों का वाणी मात्र से भी सत्कार न करे—क्योंकि इनका सत्कार करने से ये वृद्धि को पाते हैं—संसार को अधर्मयुक्त करते हैं, और अपने सेवको को भी अविद्या रूपी महासागर मे डुबो देते हैं।

इन पाँचो महायज्ञो का अत्युत्तम फल होता है। धर्म की वृद्धि होकर संसार मे सुख का संचार होता है।

गृहस्थ को अपनी दिनचर्या का भी विशेष ध्यान रखना आवश्यक है। रात्रि के चौथे प्रहर अथवा चार घडी रात से उठे। आवश्यक कार्य से निवृत्त हो, धर्म और अर्थ, शरीर के रोगो का निदान और परमात्मा का ध्यान करे। अधर्म का आचरण कभी न करे।

अधर्मात्मा मनुष्य मिथ्याभाषण, कपट, पाखण्ड और विश्वासघातादि कर्मो से पराये धन और पदार्थों को लेकर बढता है, धनादि ऐश्वर्य, यान, स्थान, मान—आदि प्रतिष्ठा को भी प्राप्त कर लेता है—परन्तु शीघ्र ही नष्ट हो जाता है, जैसे जड से कटा हुआ वृक्ष। इसलिये गृहस्थो को उचित है कि विद्वान्, पक्षपातरहित होकर सत्य का सदैव ग्रहण करें—असत्य का परित्याग करें। न्याय रूप वेदोक्त धार्मिक मार्ग ग्रहण करें—अन्यो को भी इसी प्रकार की शिक्षा दिया करें।

धर्म से धन को कमायें। और ऐसे धन को सद् पात्र में ही व्यय करें—अपात्र मे धन का दुरुपयोग न करे। जो मनुष्य ब्रह्मचर्य सत्यभाषण आदि तपरहित हैं, अशिक्षित हैं और दूसरो के धन पर ही अपना दांत रखते है, उसी पर पलते हैं—यह तीनों प्रकार के अपात्र ही है। यह स्वय भी डूबते है और अपने दाताओ को भी साथ डुबा लेते हैं।

इस प्रकार गृहस्थ इस लोक और परलोक का सदा ध्यान रखें। धर्म का सञ्चय धीरे-धीरे करता जाये—क्योंकि धर्म ही के सहारे से दुस्तर दु.ख सागर को जीव तर सकता है।

गृहस्थ जीवन मे—विवाह होने के पश्चात् स्त्री के साथ पुरुष और पुरुष के साथ स्त्री बिक चुकी होती है। जो उनके पारस्परिक हाव-भाव, नख-शिखाग्र-पर्यन्त जो कुछ भी है—वह एक दूसरे के आधीन हो जाते हैं। अत. स्त्री या पुरुष एक दूसरे की प्रसन्नता बिना कोई व्यवहार न करें। इन में बड़े अप्रियकारक काम व्यभिचार, वेश्या-पर-पुरुषगमनादि हैं—इन को छोड के अपने पति के साथ स्त्री और स्त्री के साथ पति सदा प्रसन्न रहें।

वर्णाश्रम-व्यवस्था

जिस प्रकार गृहस्थ अपने विवाह वर्णानुक्रम से करते हैं—वैसे ही वर्ण-व्यवस्था भी गुण-कर्म-स्वभाव के अनुसार होनी चाहियें। जो उत्तम विद्या स्वभाव वाला है, वही ब्राह्मण के योग्य और मूर्ख शूद्र के योग्य होता है और ऐसा ही आगे भी होगा।

जो नीच भी उत्तम वर्ण-कर्म-स्वभाव वाला होवे तो उस को भी उत्तम वर्ण मे और जो उत्तम वर्णस्थ होके नीचे काम करे, तो उस को नीच वर्ण मे अवश्य गिनना चाहियें।

यजुर्वेद के इकत्तीसवें अध्याय के ग्यारहवें मन्त्र—"ब्राह्मणोऽस्यमुखमासीद्०" का अर्थ भी यही है कि जो पूर्ण व्यापक परमात्मा की सृष्टि मे मुख के सदृश सब मे मुख्य–उत्तम हो, वह ब्राह्मण, बाहु-बल-वीर्य जिस मे अधिक हो, वह क्षत्रिय; कटि के अधोभाग और जानु के उपरिस्थ भाग का ऊरू नाम है, जो सब पदार्थों और सब देशों मे ऊरू के बल से जावे-आवे, प्रवेश करे, वह वैश्य; और जो पग के अर्थात् नीचे अङ्ग के सदृश मूर्खत्वादि गुण वाला हो वह शूद्र है। यही बात मनु ने भी कही है कि शूद्र कुल मे उत्पन्न होके ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य के समान गुण कर्म स्वभाव वाला हो तो वह शूद्र—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य हो जाये और वैसे ही जो ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य कुल में उत्पन्न हुआ हो और उसके गुण कर्म और स्वभाव शूद्र के सदृश हों तो वह शूद्र हो जाये—इसी प्रकार क्षत्रिय या वैश्य कुलोत्पन्न भी ब्राह्मण या शूद्र के समान होने से

ब्राह्मण और शूद्र भी हो जाता है। चारों वर्णों में जिस-जिस वर्ण के सदृश जो जो पुरुष वा स्त्री हो वह वह उसी वर्ण में गिनी जावे। इस विषय में अनेक प्रमाण हैं।

वर्ण-धर्म

चारों वर्णों के कर्त्तव्य कर्म और गुण भी पृथक्-पृथक् हैं।

पढना-पढ़ाना, यज्ञ करना-कराना, दान देना और लेना—ये छः कर्म ब्राह्मण के हैं। वास्तव में "प्रतिग्रह" लेना नीच कर्म है। 'शम, दम, तप, शौच, क्षान्ति, आर्जव, ज्ञान, विज्ञान और आस्तिक्य'—छ; पहिले और नौ पिछले मिलाकर—यह पन्द्रह कर्म और गुण ब्राह्मण वर्णस्थ मनुष्यों में अवश्य होने चाहियें।

इसी प्रकार ग्यारह क्षत्रिय वर्ण के कर्म और गुण हैं—अर्थात् प्रजारक्षण, दान, इज्या—अग्निहोत्रादि यज्ञ करना-कराना, अध्ययन, विषयों में न फंसना, शौर्य, धृति (धैर्य), दाक्ष्य—राज प्रजा सम्बन्धी व्यवहार और शास्त्रों मे चतुराई, युद्ध से न डरना, न भागना, दान, ईश्वरभाव—पक्षपात रहित होकर सब के साथ यथायोग्य वर्तना—प्रतिज्ञा पूरी करना—यह क्षत्रियों के धर्म हैं।

वैश्यों के गुण-कर्म भी इसी प्रकार गिनाये गये हैं—अर्थात् पशु-रक्षा, दान, इज्या (अग्निहोत्रादि), अध्ययन, वणिक्पथ (सब प्रकार के व्यापार करना), कुसीद (ब्याज-सौ वर्ष में भी दूने से अधिक न लेना), कृषि (खेती) करना—यह सब वैश्य-कर्म समझे गये हैं।

शूद्र को सेवा का अधिकार है। वह भी इसलिये कि वह विद्या रहित है, मूर्ख है। विज्ञान-सम्बन्धी काम कुछ भी नहीं कर सकता। वह केवल शरीर से ही कार्य कर सकता है—वही उससे लेना उचित है। वर्णों को अपने-अपने अधिकार में प्रवृत्त करना राजा आदि सभ्यजनों का काम है।

गृहस्थ का महत्त्व

इस प्रकार गृहस्थाश्रम (विवाह करके गृहस्थ बनना) बहुत महत्वपूर्ण आश्रम है। कुछ लोग पूछा करते हैं—यह आश्रम सब से छोटा है—अथवा बड़ा। हम

तो यही कहते हैं कि अपने-अपने कर्त्तव्य कर्मों मे सब बड़े हैं, परन्तु जैसे नदी और बड़े-बड़े नद तब तक भ्रमते रहते हैं, जब तक समुद्र को प्राप्त नहीं होते, वैसे गृहस्थ ही के आश्रय से सब आश्रम स्थिर रहते हैं। बिना इस के किसी आश्रम का कोई व्यवहार सिद्ध नहीं होता। ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ और संन्यास तीनों आश्रमों को दान अन्नादि देकर गृहस्थ ही धारण करता है, इस से गृहस्थ ज्येष्ठाश्रम है अर्थात् सब व्यवहारो मे धुरन्धर कहाता है। इसलिये जो मोक्ष और संसार के सुख की इच्छा करता है, वह प्रयत्न से गृहाश्रम को धारण करे।

जितना कुछ व्यवहार संसार में है, उसका आधार गृहस्थाश्रम है। जो यह गृहस्थाश्रम न होता तो सन्तानोत्पत्ति न होती—फिर ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ और संन्यासाश्रम कहाँ से हो सकते ?

जो गृहस्थाश्रम की निन्दा करता है, वही निन्दनीय है—जो प्रशंसा करता है, वही प्रशंसनीय है।

परन्तु स्मरण रहे यह पुण्य गृहस्थाश्रम दुर्बलेन्द्रिय अर्थात् भीरु और निर्बल पुरुषो से धारण करने योग्य नहीं है। और गृहाश्रम में सुख भी तभी होता है, जब स्त्री और पुरुष दोनों परस्पर प्रसन्न, विद्वान्, पुरुषार्थी और सब प्रकार के व्यवहारो के ज्ञाता हो। इसलिये गृहस्थाश्रम के सुख का मुख्य कारण ब्रह्मचर्य और पूर्वोक्त स्वयंवर विवाह है। समावर्तन, विवाह और गृहस्थाश्रम के विषय मे यह संक्षिप्त शिक्षा लिखी गयी है।

०

मैने सत्यार्थप्रकाश को कम से कम १८ बार पढ़ा। जितनी बार मैं उसे पढ़ता हूं, मुझे मन और आत्मा के लिए कुछ नवीन भोजन मिलता है। पुस्तक गूढ़ सचाइयो से भरी पड़ी है।

—स्व० प० गुरुदत्त विद्यार्थी एम० ए०

वानप्रस्थ और संन्यास आश्रम

आवश्यकता और कर्त्तव्य

सत्यार्थप्रकाश के

पंचम समुल्लास के आधार पर

स्वामी अखिलानन्द सरस्वती
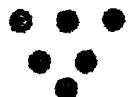
वैदिक धर्म मे आश्रम-व्यवस्था के दो अतिम चरण है, वानप्रस्थ व संन्यासाश्रम। यह दोनो आश्रम आर्य सस्कृति को अपनी मौलिक विशेषता है। समाज के विकास और स्वस्थ नियत्रण के लिए सन्यासी कर्मठ और जागरूक प्रहरी का कर्त्तव्य निभाता है।

वानप्रस्थी एव सन्यासी की स्थिति, कर्त्तव्य और धर्म सत्यार्थप्रकाश के पचम समुल्लास मे स्पष्टतया बताये गये है।

आर्य संन्यासी ने अपने अनुभव के आधार पर प्रेरक ढग से विषय को सभी के सम्मुख उपस्थित किया है।

—सम्पादक

पाँच

प्राणी इस अथवा उस जगत में अपनी इच्छा से नही आया; परन्तु अपने कर्मानुसार आया, अपनी व्यवस्था से नहीं आया दूसरी सत्ता के द्वारा आया, जो आने वाले से प्रबल है, शक्ति में भी और ज्ञान में भी। ससार मे आने का जीवनोद्देश्य भी बतला दिया कि तुझ को पूर्व कृत कर्मो के भोगो को भोगते हुए भविष्य के लिये धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष प्राप्त करना है, किस प्रकार करना है, उसके साधन भी बतला दिये और न केवल बतला दिये किन्तु वह समस्त साधन उत्पन्न करके जो जिस योग्य था जैसे जिस के कर्म थे उनके अनुसार उन-उन को दे भी दिये।

उस महान शक्ति ने जिसकी व्यवस्था से मनुष्य संसार में आया, बतला दिया कि ऐ मनुष्य तू इस संसार मे जितने साधन उपलब्ध हैं, इनका उचित प्रयोग कर और इन साधनों से आगे बढ़ने का प्रयत्न कर। यदि साधनो की कमी के कारण तुझे अपने उद्दश्य की प्राप्ति में कुछ कमी रहेगी तो पुन. तुम्हे उत्तम साधनो से परिपूर्ण किया जायगा। यहाँ तक कि अपने उद्देश्य को प्राप्त कर सब दुखों से बच कर मोक्ष को प्राप्त कर सकेगा।

व्यवस्थापक प्रभु ने यह भी आदेश दिया कि साधनो का प्रयोग, प्रयोग करने की योग्यता प्राप्त करके ही करना चाहिये ताकि उनके प्रयोगो मे भूल न हो सके और उनके प्रयोग से पूरा लाभ उठाया जा सके इसलिये ऐ मनुष्य तू सर्व प्रथम अपने को बलवान् बना, शारीरिक उन्नति क साधनो का प्रयोग

कर। उत्तम गुरुओ द्वारा अपनी आत्मा को प्रभु के ज्ञान तथा ऋषियों द्वारा संगृहीत रस का पान कर बलवान बना। अपनी इन्द्रियो को विषयो से पृथक् रख जिससे यह इन्द्रियाँ बलवान बन कर पवित्र भी रह सकें और आज्ञा पालन करती हुई तुझे सीधे मार्ग से विचलित न करे। जीवन का एक चौथाई भाग तुझे इस प्रकार व्यतीत करना है मानो ससार मे तेरे लिये सिवाय तेरे गुरु और परम गुरु प्रभु के अतिरिक्त कुछ है ही नहीं। तेरा सत्सग केवल तुझ जैसे ही जीवन के प्रथम भाग के यात्री से हो, या उन पुस्तको से हो जो शारीरिक व आत्मिक उन्नति के साधन है। इस जीवन के भाग मे मनुष्य विशेष रूपेण जीवन के उद्देश्य के प्रथम भाग को प्राप्त कर अगले-अगले अन्य भागों की प्राप्ति के साधन जुटाने की चिन्ता में लगता है अर्थात् अर्थ और काम की ओर झुकता है। जहाँ अपने जीवन के सम्बन्ध को जो अब तक एकता की रीति मे स्वयं को बनाने में लगता रहा अन्यो के साथ जोड़ता है और गृहस्थी बनता है। अपने गृहस्थ के भार को उठाने के योग्य बनकर उस भार को प्रसन्नता से लेता है। जन साधारण के सम्पर्क मे आ कर अपने अनुकूल साधन द्वारा धर्म के साथ जिस का अभ्यास जीवन के प्रथम भाग मे किया है अर्थ प्राप्ति मे लग कर राष्ट्र के लिये उत्तम सन्तान पैदा करने का भी यत्न करता है। जीवन के इस भाग मे अपने परिवार की चिन्ता के साथ-साथ अपने देश की भी चिन्ता करता है, देशवासियो के सम्पर्क मे आकर देशवासियो के दु खो को मिटाने का साधन बनता है और दूसरों के लिये सुख के साधनों को जुटाता है। दुःख दूर करने के लिये ससार से अविद्या के नाश का बीड़ा उठाता है। विद्या के प्रसार व प्रचार के कार्य को जीवन का एक मात्र मुख्य कार्य बनाता है। या संसार मे अन्याय से होने वाले दु.खो को मिटाने का उत्तरदायित्व अपने ऊपर लेकर शारीरिक बल से जनता को और राष्ट्र को सहायता देता है। यदि उपरोक्त दोनो साधन अपने अनुकूल नहीं पड़ते हैं तो तीसरे प्रकार से उत्पन्न होने वाले दुःख-अभाव को मिटाने का प्रयत्न करता है। संसार से अपनी रुचि व शक्ति के अनुसार उन वस्तुओं को उत्पन्न करने में जीवन को लगाता है जिनसे संसार का दुःख दूर हो, और जनता का कल्याण होकर राष्ट्र को बल मिले। यदि यह भी न हो सके तब अन्त में जनसाधारण की अपने शरीर से

सेवा करना अपना ध्येय बना कर जीव यात्रा के दूसरे मार्ग का यात्री बनता है और संसार की सेवा कर अर्थ और काम अर्थात् धर्म के साथ अर्थ उपार्जन कर, धर्म के साथ उसका भोग कर जीवन को सफल बनाता है। संसार में सुख-वृद्धि मे सहायक होता है। जीवन का यही दूसरा भाग जीवन का मुख्य भाग है यदि यह न हो तो अन्य नहीं हो सकें। यही भाग समस्त जीवन का आश्रयभूत है।

वानप्रस्थ का समय और उसके कर्त्तव्य

ईश्वरीय नियमानुसार जीवन का अर्द्ध भाग समाप्त होने के पश्चात् मनुष्य का शरीर कुछ विश्राम चाहता है। संसार के झंझटों से पृथक् हो कर जीवन के तीसरे भाग को इस प्रकार बिताना चाहता है कि जिससे शारीरिक परिश्रम कम हो और जनता का लाभ अधिक हो उस ही जनता के लाभ के साथ अपना लाभ भी निहित है, अब तक आत्मा अपने स्थूल शरीर से काम अधिक करती रही और सूक्ष्म से कम। स्थूल शरीर कार्य की अधिकता से थक जाता है, दुर्बल भी हो जाता है। मनुष्य बुढ़ापे की ओर झुक जाता है। शरीर की खाल मांस को छोडने लगती है। अतः अब मनुष्य जीवन के तीसरे भाग में पदार्पण करता है ताकि गृहस्थ से सम्बन्ध कम हो और अपने उत्पन्न करने वाले प्रभु की ओर ध्यान लगे, इस हेतु घरो की चार दीवारियों से पृथक् हो कर वनो में जाकर वास करता है। अपना सत्संग अपने ऋषि मुनियों से यदि साक्षात् सम्भव नहीं होता है तो पुस्तकों द्वारा रखता है और बहुधा दोनों ही रखता है; ताकि जीवन के प्रथम भाग में जितना ज्ञान प्राप्त किया था उसको पुनः दोहरा ले और आगे को भी बढ़ा दे। गृहस्थ मे रह कर जो लगाव संसार से तथा सांसारिक वस्तुओं और व्यक्तियो से हो गया था। उसको काम करते-करते त्याग दे। अपनी इन्द्रियो पर पूर्ण विजय प्राप्त कर वैरागी बन कर वनवासी बने। अपनी पत्नी को यदि वह चाहे तो साथ रख सकता है। परन्तु वह केवल साथी ही रहे किसी प्रकार की भोग वासना समीप न आवे दोनो जितेन्द्रिय रहे, राग और द्वेष पर पूर्ण विजय प्राप्त कर सत्पथगामी बनें और सत्यव्रती बनें। अहिंसा आदि यमो और शौचादि नियमो का पालन करते हुए आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा ध्यान की ओर गति निरंतर बनी रहे।

नित्य यज्ञ में कभी अवहेलना न हो। नानाप्रकार के सामा आदि अन्न उत्तम प्रकार के शाक मूल फल कन्दादि से जिस प्रकार पूर्व से करता चला आया है पंच महायज्ञ निरंतर करता रहे और जो आहार अपने जीवन के लिये प्राप्त हो वही अपने लिये उपयोगी समझे। जिस प्रकार अन्य इन्द्रियो के विषयो का त्याग किया उसी प्रकार जिह्वा के विषय स्वाद का भी पूर्ण परित्याग करे यदि कोई सौभाग्य से अतिथि आ जावे तो उसकी भी सेवा उन ही पदार्थों से श्रद्धा पूर्वक करे। संसार के मनुष्यों से घनिष्ठता कम करते हुए सब का मित्र रहे। अधिकारी को विद्यादि का दान निरंतर करता रहे। इसमें कजूसी न करे। किसी से कुछ भी न लेकर इन्द्रियों का दमन सर्वदा सर्वथा करता रहे। शरीर के सुख के लिये अधिक प्रयत्नशील न बने। ब्रह्मचारी की भाँति कठिनाइयों को सहन करने वाला बना रहे। भूमि पर सोवे, अपने पास अधिक वस्तुएँ न रखे; जितनी हों उनसे भी ममता न करे और वृक्ष की जड़ मे बस इस प्रकार जीवन व्यतीत करने पर मनुष्य शान्त और विद्वान् बन जाता है। वन मे रह कर तपस्वी बन धर्म और सत्य का प्रेमी बन जाता है। भिक्षा माँग कर भोजन करता है। समय का सदुपयोग होता है और परमपिता परमात्मा मे ध्यान लगा प्राण द्वार से उस परमात्मा को प्राप्त करने का पूर्ण प्रयत्न करता है।

इस प्रकार अविनाशी परमात्मा की उपासना से आनन्द की प्राप्ति चाहने वाला बने। उचित है कि वह दीक्षित होकर तीसरे आश्रम वानप्रस्थ को धारण कर वनवासी बने और वन मे रह कर नाना प्रकार की तपश्चर्या, सत्संग, योगाभ्यास, ज्ञान और विचारो की पवित्रता को प्राप्त करता हुआ अपने को इस योग्य बना ले कि जीवन के चतुर्थ आश्रम मे प्रवेश पाकर संन्यास आश्रम मे प्रवेश होने से पूर्व स्त्री को पुत्र के पास छोड़ आवे।

सन्यास-प्रवेश

मनुष्य संन्यास आश्रम मे प्रवेश करने से पूर्व यह भली प्रकार देख ले कि उसके त्याग और वैराग्य मे कोई न्यूनता तो नही है। ऐसा कदापि न होना चाहिये कि अधूरा मन हो। जीवन का चौथा भाग ७५ वर्ष बीत जाने पर ७६ वें वर्ष से आरम्भ होता है। जब की उसका भोगो से कोई संबन्ध नहीं

रहता, सबका त्याग आवश्यक है। इस प्रकार संन्यास आश्रम में प्रवेश ठीक है प्रथम तो यह कि गृहस्थ से ही संन्यास ले ले वानप्रस्थ में न जावे दूसरा विकल्प यह है कि गृहस्थ भी न करे, ब्रह्मचर्य से ही सन्यास आश्रम में प्रवेश करे। यह दोनों विकल्प धर्मानुकूल हैं। जब मनुष्य के पूर्ण वैराग्य हो जावे मनुष्य गृहस्थ से सीधा संन्यासी हो सकता है। वानप्रस्थ तो बीच में है ही। इस कारण कि वानप्रस्थाश्रम में त्याग और वैराग्य की भावना को उत्पन्न करे। और गृहस्थ जिसको २५ वर्ष तक भोगा है, से जो राग है वह छुट जावे और वानप्रस्थ में पूर्ण वैराग्य प्राप्त करे। परन्तु जब गृहस्थ में ही वैराग्य प्राप्त हो गया तो वानप्रस्थ की आवश्यकता न रही सीधा संन्यास आश्रम को प्राप्त कर लेवे, ऐसी आज्ञा धर्म की है। इसी प्रकार जो पूर्ण विद्वान पूर्ण ब्रह्मचारी है, जिसको विषय भोग की कामना नहीं, जितेन्द्रिय है और परोपकार की भावना से परिपूर्ण है, वह ब्रह्मचर्य से ही सीधा बिना गृहस्थ में प्रवेश किये ही संन्यास आश्रम में प्रविष्ट हो सकता है। कोठपनिषद् के वल्ली मंत्र ३३ में वर्णन है।

नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहित ।
नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात् ॥

जो दुराचार से पृथक् नही, जिसको शान्ति नहीं, जिसका आत्मा योगी नहीं, और जिसका मन शान्त नहीं है। वह संन्यास लेके भी अज्ञान से परमात्मा को प्राप्त नहीं होता। इसलिये यह सत्य है कि ब्रह्मचर्य से सीधा सन्यास लेना कठिन है। काम को रोकना सुगम नही है। परन्तु सम्भव है, असम्भव नहीं। संसार मे अब भी और पूर्व इतिहास मे भी ऐसे उदाहरण मिलते हैं कि विद्वानों ने सीधे संन्यास लिया है। हाँ जो निर्वाह न कर सके, इन्द्रियो पर विजय प्राप्त न कर सके, वह ब्रह्मचर्य से संन्यास न लेवे। परन्तु जो निर्वाह कर सकता है, इन्द्रियो पर विजय प्राप्त किये हुए हैं। जिसकी धारणा परोपकार में दृढ़ है। जो अपनी प्रतिज्ञा मे चट्टान के समान अडिग है, वह क्यो न ले। जिस ब्रह्मचारी ने विषयों के दोषो को जान लिया है, जिसने वीर्य-रक्षा के गुण जाने है। वह विषय आसक्त कभी न होगा। और उसका वीर्य विचाराग्नि मे ईंधनवत काम करता है। औषध की आवश्यकता रोगी को

होती है। जो काम रोगी नहीं है, वह विवाह की औषधी क्यों खायगा। जिसको परोपकार करना है, वह गृहस्थ के झंझटों में न फंस कर सीधा संन्यास में ही जाना पसन्द करेगा।

'यच्छेद्वाङ्मनसि प्राज्ञस्तद्यच्छेद् ज्ञानआत्मनि।
ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत्तद्यच्छेच्छान्त आत्मनि ॥"
कठ वल्ली ३। म० १३

संन्यासी बुद्धिमान वाणी और मन को अधर्म से रोक कर उनको ज्ञान और आत्मा में लगावे और उस ज्ञान स्वात्मा को परमात्मा में लगावे और उस विज्ञान को शान्तस्वरूप आत्मा में स्थिर करे और भी देखे मुण्डक ख० ३ मं०। १२ में लिखा है।

"परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो निर्वेदमायान्नास्त्यकृत. कृतेन।
तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणि· श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठम् ॥

सब लौकिक भोगो को कर्म से सचित हुए देखकर ब्राह्मण अर्थात् संन्यासी वैराग्य को प्राप्त होवे क्योंकि अकृत अर्थात् न किया हुआ परमात्माकृत अर्थात् केवल कर्म से प्राप्त नही होता। इसलिये कुछ अर्पण के अर्थ कुछ हाथ में लेके वेदवित् और परमात्मा जानने वाले गुरु के पास विज्ञान के लिए जावे। जाकर सब सन्देहो की निवृत्ति करे। परन्तु ऐसे गुरुओं के पास न जावे जो दुर्बुद्धि हों, अविद्या में फंसे हुए होने के बावजूद अपने को विद्वान् समझते हैं। ऐसों के पास जाकर मनुष्य दु खों मे फँसता है और ईश्वर को कभी नहीं पा सकता। इसलिए सन्यासी ईश्वर के दिए ज्ञान वेदो के अर्थ ज्ञान और आचार में भले प्रकार निपुण दम्भ रहित शुद्ध अन्त करण वाले परोपकारी सन्यासी के पास जाकर ही मुक्ति-प्राप्ति के साधनो को प्राप्त कर मुक्त होने का प्रयत्न करे। क्योंकि बिना मुक्ति के दु ख का नाश सम्भव नहीं। मुण्डक ख० ? मंत्र ६ छा० मे भी ऐसा वर्णन है, कि जो देहधारी है वह सुख-दु ख की प्राप्ति से पृथक् कभी नहीं होता और जो शरीररहित जीवात्मा मुक्ति मे सर्वव्यापक परमेश्वर को शुद्ध होकर प्राप्त करता है। उसको सांसारिक सुख-दुःख प्राप्त नहीं होता। इसलिए शतपथ का० १४ के मन्त्र १ के अनुसार लोक में प्रतिष्ठा वा लाभ, धन से भोग व मान, प्रजादि के मोह से पृथक् होकर भिक्षुक बनकर रात-दिन मोक्ष के साधनों में तत्पर रहे।

यजुर्वेद के ब्राह्मण में भी लिखा हैं।

प्राजापत्यां निरूप्येष्टिं तस्यां सर्ववेदसं
हुत्वा ब्राह्मणः प्रव्रजेत्।
प्राजापत्या निरूप्येष्टि सर्ववेदसदक्षिणाम्।
आत्मन्यग्नीन्समारोप्य ब्राह्मणः प्रव्रजेद् गृहात्।

अर्थात् प्रजापति परमेश्वर की प्राप्ति के अर्थ इष्ट अर्थात् यज्ञ करके उसमें यज्ञोपवीत शिखा आदि चिह्नों को छोड़ आहवनीयादि पंच अग्नियों को प्राण, अपान, व्यान, उदान और समान इन ५ प्राणों में आरोहण करके ब्राह्मण घर से निकल कर सन्यासी हो जावे। इसी प्रकार मनु जी भी कहते हैं कि "जो सब भूत प्राणी मात्र को अभयदान देकर घर से निकल कर सन्यासी होता है, उस ब्रह्मवादी अर्थात् परमेश्वर प्रकाशित वेदोक्त धर्मादि विद्याओं के उपदेश करने वाले सन्यासी के लिए प्रकाशमय अर्थात् मुक्ति का आनन्दस्वरूप लोक प्राप्त होता है।

संन्यासी का धर्म

सन्यासी का धर्म है कि वह पक्षपातरहित न्याय-आचरण, सत्य का ग्रहण असत्य का परित्याग वेदोक्त ईश्वर की आज्ञा का पालन परोपकार सत्यभाषणादि कार्यों में तत्पर रहे। परन्तु इसके अतिरिक्त जब चले तो नीची दृष्टि रखकर इधर-उधर न देखकर चले, वस्त्र से छानकर पानी पीवे। किसी पर क्रोध न करे, अपनी निन्दा सुन कर भी, सदा भलाई का उपदेश करे। सत्य बोले, असत्य कभी न बोले, मांस-मदिरा का कभी सेवन न करे, धर्म-उपदेश और विद्या पढ़ाता रहे।

केश, नख, दाढ़ी मूंछ को छेदन कराता रहे, दण्ड और कुसुम के रंगे वस्त्रों को ग्रहण करके निश्चितात्मा से विचरे किसी को पीड़ा न दे। यह भी निश्चित जाने कि दण्ड कमण्डल काषाय वस्त्र आदि चिह्न धर्म का कारण नहीं हैं। संन्यासी सप्तव्याहृतियो से विधिपूर्वक प्राणायाम जितनी शक्ति हो उतने करे। परन्तु उसे न्यून न करे, यही संन्यासी का परमतप है जैसे अग्नि धातु के दोष को दूर करती है, वैसे ही संन्यासी का तप दोषों को दूर करता है। इसीलिये सन्यासी नित्य प्राणायाम से आत्मा इन्द्रिय और अन्त.करण के दोषो को दूर किया करे और धारणा से पाप, प्रत्याहार से संगदोष, ध्यान से हर्ष, शोक, और अविद्या के अवगुणो का नाश करे।

संन्यासी धर्म के लक्षण जो निम्नलिखित हैं, पूर्णरूपेण जीवन मे सेवन करते रहें—धृति, क्षमा, दमा, अस्तेय, शौच, इन्द्रिय, निग्रह, धीर, विद्या, सत्य, अक्रोध इन दस लक्षणों पर अन्यों को चलाना भी संन्यासी का धर्म है।

सन्यासी कौन बने ?

एक प्रश्न है कि संन्यासी प्रत्येक व्यक्ति हो सकता है या कोई विशेष व्यक्ति ही संन्यास ले सकता है। समाधान इस प्रकार है, प्रत्येक सन्यास ले सकता है। यदि उसने सन्यास लेने की योग्यता प्राप्त कर ली है। यदि संन्यासी बनने की योग्यता प्राप्त नहीं की है तो नहीं बन सकता, जिस प्रकार कोई व्यक्ति आचार्य बन सकता है। परन्तु आचार्य बनने के लिए प्रथम शास्त्री बनना आवश्यक है। अत. कहा यही जावेगा कि आचार्य शास्त्री ही बन सकता है, जो शास्त्री नहीं है, वह नहीं बन सकता। इसी प्रकार यत. संन्यासी बनने के लिए पहले ब्राह्मण बनना आवश्यक है। अत: कहा जायगा कि ब्राह्मण ही संन्यासी बन सकता है। ब्राह्मण प्रत्येक मनुष्य बन सकता है। जो व्यक्ति ब्राह्मण के गुण, कर्म, स्वभाव अपने बना लेगा, वही सन्यासी हो सकता है। जन्म का ब्राह्मण यदि ब्राह्मण के गुण, कर्म, स्वभाव नहीं रखता, तो वह भी संन्यासी न बनेगा—मनु जी महाराज की भी ऐसी ही सम्मति है।

क्या संन्यास आवश्यक है ?

प्रश्न है कि क्या सन्यास लेना मनुष्य के लिए आवश्यक है, उत्तर है कि आवश्यक है। कुछ जो व्यक्ति ऐसा कहते हैं कि आवश्यक नहीं, वह ठीक नहीं कहते। जिस प्रकार देश और जाति को अपने जीवन-रक्षार्थ वैश्य और क्षत्रिय की आवश्यकता है। इसी प्रकार सन्यासी की भी आवश्यकता है, बिना क्षत्रिय के देश की रक्षा सम्भव नहीं, बिना वैश्य के कृषि आदि का काम सम्भव नहीं। इसी प्रकार धर्म के और विद्या के प्रचार तथा प्रसार के लिए संन्यासी की आवश्यकता है। देश को यदि अन्न की आवश्यकता है, तो देश को धर्म और विद्या की भी उससे कम आवश्यकता नहीं। जिस प्रकार अन्न उत्पन्न करने के लिए वैश्य की आवश्यकता है। इसी प्रकार देश को उलटे मार्गो पर जाने से रोकने के लिए और धर्मानुकूल कार्य करने की शिक्षा देने के लिए संन्यासी की आवश्यकता है। सन्यासियों के देश मे न होने से ही देश की दुर्गति हुई। हां यह ठीक है कि सन्यासी संन्यासी ही होना चाहिये।

जो काम संन्यासी कर सकता है, वह काम गृहस्थी नहीं कर सकता । उसके पास इतना समय नहीं, संन्यासी को अपना कोई काम नही, परोपकार करना ही उसका काम हैं । दो गृहस्थी यदि परस्पर लडने लग जावें तो कितनी बड़ी हानि होती है । संन्यासी उनको अपने उपदेश से लड़ने से बचा सकता है, यह कहना भी किसी-किसी का मिथ्या है कि संन्यासी बन जाने से सृष्टि को हानि होगी । क्योंकि जब संन्यासी विवाह नहीं करेगा तो सन्तान कहाँ से आवेगी । यह ठीक विचार नहीं, क्योंकि सन्यास तो गृहस्थ आश्रम के पश्चात् ही होता है । ब्रह्मचर्य से सीधा संन्यास लेने वालों की संख्या तो अत्यन्त न्यून होगी । अत यह कल्पना करना कि सृष्टि की हानि होगी, मिथ्या ही है । दूसरे यह कि अनेक गृहस्थियों के विवाह कर लेने पर भी सन्तान नहीं होती तो विवाह से लाभ न हुआ ।

किन्हीं-किन्ही का कहना है कि संन्यास लेने के पश्चात् संन्यासी के कुछ कर्तव्य नहीं, समस्त संसार मिथ्या है, .सब ब्रह्म है इत्यादि । परन्तु यह कहने वाले कि 'सब मिथ्या है', मे स्वयं भी आ जाते हैं और वह भी मिथ्या ही बन जाते हैं, जो कहता है कि सन्यासी का कुछ कर्तव्य नही यह भी ठीक नही । संन्यासी का भोजन आदि कर्म नहीं छूट जाता है तो शुभ कर्म जो दूसरो को सत्योपदेश करना है वह भी नहीं छूट सकता । संन्यासी का यह परम कर्तव्य है कि ससार को सीधे मार्ग पर चलावे सबका उपकार करे ।

लोगों की यह कल्पना भी है कि संन्यासी अग्नि तथा धातु को हाथ न लगावे । उपदेश करना गृहस्थियो का काम है, सन्यासी का नहीं । संन्यासी को इन झंझटों मे नही पड़ना चाहिए । संन्यासी कही अधिक न ठहरे अधिक से अधिक ३ रात्रि ठहरे, इससे अधिक कहीं न ठहरे । और किसी को उससे स्वर्ण ग्रहण कर नरकगामी न बनावे इत्यादि अनेक बातें हैं जो सन्यासी का कर्तव्य नही हैं ।

जो लोग ऐसा कहते हैं वह सत्य नही है, स्वार्थी लोगो की अपनी दूषित मनोवृत्ति की कल्पनाएँ हैं जरा विचारिये कि जब किसी व्यक्ति ने ससार को त्यागा ही इसलिए है कि वह स्वार्थ छोड़कर ससार का उपकार करेगा तो किस प्रकार सम्भव है कि संन्यासी संसार की समस्त वस्तुएँ त्याग देगा शरीर को स्थिर स्वस्थ रखने के हेतु ससार की उन वस्तुओं से सम्पर्क रखना आवश्यक है । जिनसे शरीर रह सके, ताकि जनता का उपकार करने में कोई बाधा न आवे । इसमे चाहे धातु हो या काष्ठ हो, संन्यासी के पास समय अधिक होता

है, गृहस्थी के पास समय नहीं होता । अतः जितना प्रचार गृहस्थी कर सके उतना वह करे, परन्तु सन्यासी अधिक कर सकता है, उसको प्रचार न करना चाहिये यह बिलकुल गलत है, सन्यासी ससार का जितना उपकार कर सकता है, उतना कोई नहीं कर सकता । सन्यास आश्रम मे न केवल पुरुष ही प्रवेश ले, अपितु स्त्रियाँ भी उसमें प्रवेश लें और स्त्रियाँ स्त्रियों में काम करे, अर्थात् स्त्रियों को धर्म का उपदेश करें । सन्यासी को भ्रमण का अवकाश अधिक है । उनका कार्य भ्रमण करते हुए अधिक हो सकता है । यह ठीक है कि एक स्थान पर अधिक न ठहरे । परन्तु इससे प्रचार-कार्य अधिक नहीं हो सकता, पूर्वकाल मे एक राज्य मे एक स्थान पर ४-४ मास तक भी रहा करते थे । अतः आवश्यकतानुसार अधिक भी रहे ।

देश का कल्याण किसमें है, यह सन्यासी अधिक जानता है और उसी के अनुसार करता भी है । यह कहना कि सन्यासी के पास कोई धातु न हो, सोना, चांदी न हो यह देश व जाति के हित की बात नहीं । यदि सन्यासी के पास उसकी आवश्यकता की समस्त वस्तुएँ होगी तो वह किसी के आधीन भी न रहेगा और हरेक की समालोचना निर्भीक होकर करेगा—संन्यासी की अधिक से अधिक सेवा करनी चाहिए और ऐसे सन्यासी की जो अपने जीवन को उपकार मे लगाता हो, हाँ यह सत्य है कि सन्यासी अपने पास अधिक न रखे।

किसी-किसी का कहना है कि श्राद्ध मे संन्यासी न आवे, अन्यथा पितर भाग जाते है । यह बात भी नितांत गलत और भ्रमोत्पादक है । मृत पितर कभी आते ही नही, न ही कुछ दिया हुआ उनको पहुँचता है । श्राद्ध तो संन्यासियों का किया जाता है । सन्यासी श्राद्ध मे से भगा दिये जायें या उनका आना निषिद्ध है, यह तो बिल्कुल ही अनोखी बात है । पितर तो हमारे सन्यासी माता-पिता और देश के विद्वान् ही हैं और जिनको पितर आप मानते है वह तो मर कर पुन॰ जन्म पाते हैं कहाँ जाते हैं, यह आप जानें न हम । तब आपकी भेजी वस्तु किस प्रकार कहाँ जा सकती है ।

सन्यासियों मे ऐसे साधु जो केवल पेट के पुजारी हैं, जो वैरागी, गुसाईं, खाकी आदि है; उनको सन्यासी नहीं गिनना चाहिए । क्योंकि इनसे देश का कोई लाभ नही होता । यह सब स्वार्थी है । अपने प्रपच में जनता को फँसाने वाले हैं । परन्तु जो सन्यासी जन समूह के हितैषी हैं, सबका कल्याण करने मे सर्वदा तत्पर रहते है और लोक तथा परलोक का ज्ञान देकर उनको मोक्ष का अधिकारी बनाते हैं, वह पूजनीय और श्रद्धा के पात्र है ।

राज्य-व्यवस्था की वैदिक प्रणाली

श्री पं० रामगोपाल शास्त्री

राजधर्म

(राज.) प्रो० रणजीतसिंह
एम० ए०, एम० ओ० एल०

सत्यार्थ प्रकाश के छठे समुल्लास के आधार पर

संसार में किस प्रणाली के आधार पर राज्य-व्यवस्था संचालित हो, यह प्रश्न आज भी विचारको के सम्मुख है !

महर्षि ने छठे समुल्लास में राज्य-व्यवस्था पर वैदिक दृष्टिकोण उपस्थित कर राजा और प्रजा के धर्म, अधिकार और कर्तव्यो का निर्देशन किया है।

तीन पृथक् सभाएँ, सभा के आधीन राजा, राजा के आधीन प्रजा, प्रजा के आधीन सभा की स्थिति, दुर्ग विधान, क्षत्रियों का धर्म, राज्य-प्रबन्ध, शत्रु से व्यवहार, दण्ड-विधान आदि विषयो पर महर्षि का मार्ग-दर्शन राजनीति की अनेक समस्याओ का हल है।

इस गम्भीर विषय को दोनों विद्वानों ने सरल और ग्राह्य प्रकार से हमारे सम्मुख उपस्थित किया है।

—*सम्पादक*

[illegible]

समाज मे व्यवस्था और शान्ति बनाए रखने के उद्देश्य से ईश्वर का आदेश है कि राजा और प्रजा के पुरुष मिल के सुख-प्राप्ति और विज्ञान-वृद्धि के लिए राज्य की स्थापना करें और वह राज्य विद्यार्यसभा, धर्मार्यसभा तथा राजार्यसभा बना करके चलावें।

एक व्यक्ति को राज्य का स्वतन्त्र अधिकार न देना चाहिए। जैसे सिंह हृष्ट-पुष्ट पशु को मार कर खा जाता है, वैसे ही अकेला स्वतन्त्र राजा प्रजा का नाश कर देता है और किसी को अपने से अधिक नही होने देता, प्रत्युत प्रजा के धन को लूट-खसूट कर अन्याय से राज्य करके अपना प्रयोजन सिद्ध करता है।

प्रजा को राज्य-संचालन के लिए सभापति (राजा) चुनना चाहिए। वह सभापति देश के ऐश्वर्य का वढाने वाला, पक्षपातरहित, न्याय, धर्म, विद्या का प्रकाशक, अन्याय निरोधक, दुष्टों को दण्ड देने वाला, श्रेष्ठ पुरुपो को आनंदित करने वाला, राज्य कोष को पूर्ण करने वाला, विद्या, विनय युक्त, जितेन्द्रिय और संयमी होना चाहिए।

राजा और प्रजा को राज्य-प्रबन्ध के लिए ऊपर लिखी हुई तीन सभाओ के लिए निम्न प्रकार के अधिकारी नियुक्त करने चाहिएँ। महाविद्वानो को विद्या-सभा अधिकारी; धार्मिक विद्वानो को धर्मसभा अधिकारी; प्रशसनीय, धार्मिक

तथा नीतिनिपुण पुरुषों को राजसभा का अधिकारी बनावें। तीनो सभाओ की सम्मति से राज्य-शासन के उत्तम नियम बनावें और सभापति तथा प्रजा उन नियमो के आधीन राज्य का व्यवहार चलावें।

इस प्रकार राज्य का अधिकार किसी एक स्वतंत्र व्यक्ति के आधीन नही रहना चाहिए। सभापति (राजा) के आधीन सभा, सभा के आधीन राजा, राजा और सभा प्रजा की सम्मति के अनुसार कार्य करें। प्रजा राज सभा के नियमो के अधीन रहे। इस प्रकार प्रजा और राजसभा एक दूसरे के आधीन रह कर देश के ऐश्वर्य की समृद्धि करें।

इन तीनो सभाओ मे मूर्खों की कभी भरती न करे, किन्तु सदा धार्मिक और और विद्वान पुरुषो की नियुक्ति करें। बहु संख्या वाले अज्ञानी सहस्रो मिल के जो कुछ व्यवस्था करें वह कभी भी मान्य नही हो सकती। प्रत्युत वेदादि शास्त्रो के विद्वान्, धार्मिक अल्प संख्या वाले जिस धर्म की व्यवस्था करें वही व्यवस्था श्रेष्ठ और मान्य है।

इस प्रकार तीन सभाओ द्वारा बनाए गए शासन-विधान को कार्यरूप मे परिणत करने के लिए भिन्न-भिन्न विभागो मे भिन्न-भिन्न राज्याधिकारी अपने राज्य और स्वदेश मे उत्पन्न हुए हो। विविध शास्त्रो के ज्ञाता शूरवीर कुलीन, सुपरीक्षित, सच्चरित्र, निश्चित बुद्धि और चतुर हो।

जितने भी मनुष्य राज्यकार्य-सिद्धि के लिए नियुक्त किये जावें वे सब आलस्यरहित, बलवान, सदाचारी, राज्य और स्वदेश के भक्त हो।

राज्य और दंड

जो राजा दण्डनीयो को दण्ड नही देता और अदण्डनीयो को दण्ड देता है उस राजा के राज्य मे कभी शान्ति और सुख नही रहता। दंड को अच्छे प्रकार से चलाने वाला धर्म, अर्थ, काम की सिद्धि को प्राप्त करता है। जो लम्पट, क्षुद्र, नीच-बुद्धि न्यायाधीश होता है वह दड से ही मारा जाता है। जिस राजा के राज्य मे डाकू लोग रोती तथा विलाप करती हुई प्रजा के पदार्थों और प्राणो को हरते रहते है उसका राज्य स्थिर नही रहता। राजा को चाहिए कि दड को ही सब कुछ समझे। दड ही राजा, न्याय का प्रचारक और सब का

शासन करने वाला है। दूसरे शब्दो मे दंड ही राज्य है। दंड के यथावत् न होने से राज्य की सब मर्यादाएँ छिन्न-भिन्न हो जाती हैं और प्रजा दु:खी होती है। जैसे धान्य का निकालने वाला छिलको को अलग करके धान्य की रक्षा करता है। इसी प्रकार राजा का कर्तव्य है कि डाकू, चोर, भ्रष्टाचारियो का नाश करके प्रजा की रक्षा करे। जो भी राजपुरुष तथा राज्याधिकारी गुप्त धन (रिश्वत) ले के पक्षपात द्वारा प्रजा पर अन्याय करता है, राजा का कर्तव्य है कि उस पुरुष का सर्वस्व हरण करके उसको अधिक से अधिक दड देवे और उसे ऐसे स्थान पर रखे कि जहाँ से पुन: लौट कर न आ सके। क्योकि यदि उसको दड न दिया जावे तो उसको देख कर अन्य पुरुष भी ऐसे ही दुष्ट काम किया करेंगे।

न्याय-शासन ठीक रूप से चलाने के लिए राजा का कर्तव्य है कि बड़े से बडा अधिकारी, आचार्य, मित्र, स्त्री, पुत्र और पुरोहित भी क्यो न हो उसे भी पूरा दड देवे। राजा से छोटे भृत्य पर्यन्त राजपुरुषो को अपराध मे प्रजा-पुरुषो से अधिक दड होना चाहिए।

राज्य की व्यवस्था कठोर दड से ठीक बनी रहती है। कड़ा दंड देने पर कई आपत्ति करते हैं कि कड़ा दड न देकर कोमल दंड देना चाहिए। वे लोग राजनीति को नही समझते। एक पुरुष को कठोर दंड देने से सब लोग बुरे काम करने से अलग रहेगे और बुरे काम को छोड़ कर धर्ममार्ग मे स्थित रहेगे। एक राई भर भी यह कठोर दड सब के भाग मे न आवेगा और जो सुगम दंड दिया जावेगा तो दुष्टता बढ जावेगी।

जो-जो नियम राजा और प्रजा के सुखकारक और धर्मयुक्त समझें उन-उन नियमो को तीन सभाओ द्वारा नित्य बाँधा करें। नीचे लिखे नियमो को सदा दृष्टि मे रखे—

(१) जहा तक बन सके बाल्य-अवस्था मे विवाह न करने दे।

(२) युवा अवस्था मे भी पति-पत्नी की प्रसन्नता के बिना विवाह न होना चाहिये।

(३) ब्रह्मचर्य का यथावत सेवन करना और कराना चाहिये ।

(४) व्यभिचार और बहु विवाह को बद करे जिससे शरीर और आत्मा मे पूर्ण बल बढता रहे ।

(५) सर्वदा आत्मा और शरीर के बल को बढाते रहना चाहिये ।

(६) बल और बुद्धि का नाशक व्यभिचार और अतिविषय सेवन है विशेषतया क्षत्रियो को दृढांग और बलयुक्त होना चाहिये ।

(७) राजपुरुषो को अति उचित है कि कभी दुष्टाचार न करे, किन्तु सब दिन धर्म-न्याय से वर्त कर सब के सुधार का दृष्टान्त बने । ध्यान रखना चाहिये कि प्रजा सदा ही राजा और राज पुरुषो का अनुकरण करती है । यदि वे श्रेष्ठ होगे तो प्रजा भी श्रेष्ठ होगी ।

(८) राज्य की उन्नति के लिए आवश्यक है कि प्रजा धनाढ्य, नीरोग, खानपान, वस्त्र, निवास तथा शिक्षा आदि से परिपूर्ण हो । इन आवश्यक बातो की ओर राज्य को अधिक ध्यान देना चाहिए विशेषकर के किसानो का संरक्षण करे । किसान राजाओ का राजा है और सबसे अधिक परिश्रम करने वाला है उन्हे कभी भी खानपान, छादन, निवास और धन से रहित न होने दे ।

(९) राज्य का कर्तव्य है कि सब राज पुरुषो को और अन्य प्रजाजनो को भी युद्ध की शिक्षा अवश्य दे । जो पूर्व शिक्षित योद्धा होते है, वही अच्छे प्रकार से युद्ध मे लड़ सकते हैं ।

(१०) जो कोई योद्धा युद्ध में मर गया हो उसकी स्त्री तथा असमर्थ सतान का यथावत् पालन करे । जब उसके लड़के समर्थ हो जावे तब उनको राज्य मे यथायोग्य अधिकार देवे ।

(११) राज्य कार्य मे विविध प्रकार के अध्यक्षो को नियत करे और सदा उनके काम की देखभाल करता रहे । जो यथावत् काम कर उनका सत्कार और जो विरुद्ध करे उनको दड देवे ।

(१२) प्रजा की साधारण सम्मति के विरुद्ध कोई काम न करे ।

(१३) राज्य का कर्तव्य है कि देशाचार और शास्त्र व्यवहार के आधार पर विवादयुक्त कर्मों का निर्णय शीघ्रातिशीघ्र करे।

(१४) राज्य की रक्षा और शत्रुओं को पराजित करने के लिए सदा ही शस्त्रास्त्रसयुक्त प्रशसनीय तथा बलवती सेना का निर्माण करे।

(१५) प्रजा से इस प्रकार कर (Tax) ले कि जिससे प्रजा भी दु.खी न हो और राज्य का कार्य भी बिना किसी विघ्न के चलता रहे।

(१६) राज्य मे ऐश्वर्य्य वृद्धि के लिए शिक्षा, उद्योग तथा व्यापार की ओर अधिक ध्यान देना चाहिए।

आर्यसमाजी वेदों के सच्चे अनुयायी हैं। प्रत्येक हिन्दू की दृष्टि में बाइबिल की तरह पूजनीय बन गया है—ऋषि दयानन्द का सत्यार्थप्रकाश।

कारागार की छड़ों के पीछे एक वर्ष तक 'सत्यार्थ-प्रकाश' मेरा मित्र, प्रकाशस्तम्भ और जीवन बना रहा। सत्यार्थप्रकाश में वेद का तत्व है। इसके महत्व को कम करने का अर्थ है कि वेदों के बहुमूल्य सार की प्रतिष्ठा तथा मूल्य को कम किया जाये।

—श्री सी० एस० रंगा ऐयर एम० ए०

राजधर्म

•

राज धर्मके विषय मे महर्षि की नूतन प्रेरणाएँ एवं उद्भावनाएँ हैं। उन्होने अपने सत्यार्थप्रकाश मे इन उद्भावनाओ को तीन प्रकार से प्रकट किया है। प्रथम "इसका अभिप्राय यह है" यह कहकर, द्वितीय—"अर्थात् द्वारा", और तृतीय" प्रश्नोत्तर विधि से।

अस्तु ! अब यहाँ सत्यार्थप्रकाश के षष्ठ-समुल्लास मे वर्णित राजधर्म की संक्षिप्त एव पक्षपातरहित समालोचना प्रस्तुत की जाती है, जिससे पाठक महर्षि द्वारा मान्य राजधर्म के विषय मे जानकारी प्राप्त कर सकें :—

राजा ब्राह्म हो

महर्षि के विचारो के अनुसार राजा को अपने क्षात्रधर्म के अतिरिक्त ब्राह्मण के गुणो से भी युक्त होना चाहिए। इसके लिए वे मनुस्मृति का यह श्लोक लिखते है और इसका अर्थ इस प्रकार देते है :—

"ब्राह्म प्राप्तेन संस्कारं क्षत्रियेण यथाविधि।

कि जैसा परम विद्वान् ब्राह्मण होता है, वैसा विद्वान् सुशिशित होकर क्षत्रिय को योग्य है"। यहाँ महर्षि का अभिप्राय यह है कि राजा शस्त्रो के साथ शास्त्रो का भी वेत्ता हो जिससे वह न्यायपूर्वक प्रजा की रक्षा कर सके। इन बातो से यह भी सिद्ध होता है कि राजा कम से कम पच्चीस वर्ष तक शस्त्र तथा शास्त्रों का विधिवत् अध्ययन करे। महर्षि दयानन्द राजा का

अल्पायु होना स्वीकृत नहीं करते। इसीलिए तो उन्होने अपने
मे मनु द्वारा मान्य यह सिद्धान्त कि :—

बालोऽपि नावमन्तव्यो मनुष्य इति भूमिपः।

अर्थात् चाहे राजा बालक भी हो, उसका अपमान मनुष्यों को नहीं करना चाहिए, का वर्णन नही किया है। इससे यह ध्वनि भी स्पष्ट निकलती है कि महर्षि जी के मन्तव्य के अनुसार "राजा का पद" पैतृक न होकर गुणों पर पूर्ण रूप से अवलम्बित है। इसी बात को महर्षि इस प्रकार कहते है :—

तं सभा च समितिश्च सेना च।

× × ×

सभ्य सभां मे पाहि ये च सभ्याः सभासद.।

(तम्) उस राजधर्म को (सभा च) तीनो सभा (समिति च) सग्रामादि की व्यवस्था और (सेना च) सेना मिलकर पालन करे। सभासद और राजा को योग्य है कि राजा सब सभासदो को आज्ञा देवे कि हे (सभ्य) सभा के योग्य मुख्य सभासद तू (मे) मेरी (सभाम्) सभा की धर्मयुक्त व्यवस्था का (पाहि) पालन कर और (ये च) जो (सभ्याः) सभा के योग्य (सभासद) सभासद हैं, वे भी सभा की व्यवस्था का पालन किया करें। इससे एक बात और भी स्पष्ट होती है कि प्रत्येक सदस्य को सभा के नियमो के साथ-साथ सभाध्यक्ष की व्यवस्था भी माननी योग्य है। परन्तु आजकल की विधान-सभाओ एवं लोक सभा तक मे इन नियमो की अवहेलना हम नित्य प्रति होते देखते हैं। इस प्रकार की घटनायें राष्ट्र के निर्माण मे विघटन का उबाल उत्पन्न करने वाली होती हैं। इसका मुख्य कारण है कि महर्षि द्वारा कथित सभासदों के गुण इन सदस्यो मे नही पाये जाते। सभासद के गुण आगे लिखे जायेंगे।

आगे महर्षि अपने मन्तव्य को इस प्रकार प्रकट करते हैं "इसका अभिप्राय यह है कि एक को स्वतन्त्र राज्य का अधिकार न देना चाहिए। किन्तु राजा जो सभापति, तदाधीन सभा, सभाधीन राजा, राजा और सभा प्रजा के आधीन और प्रजा राजसभा के आधीन रहे"। महर्षि के इन विचारो मे मौलिक विचार प्रत्यक्ष दिखाई देते है। ससार का कोई भी देश आज तक इस प्रकार के सविधान की व्यवस्था न कर सका, यह कितने विस्मय की बात है

महर्षि दयानन्द यहाँ कहते हैं कि सभा राजा के आधीन हो। इससे सभा के सदस्य अपनी इच्छा से राजद्रोह आदि कार्य नही कर सकते, तथा साथ मे राजा भी उस सभा के आधीन होगा, इससे राजा की निरकुशता पर प्रतिबन्ध लग जाता है। इस प्रकार कोई भी कार्य उसी समय पूर्ण समझा जाता है जबकि उस की स्वीकृति राजा तथा सभा दोनो एक मत होकर दें।

ऐसा समय भी आ सकता है, जब कि राजा तथा सभा दोनो मिल कर राष्ट्र को हानि पहुँचाने का गुप्त प्रयत्न करे। इस अवस्था को रोकने के लिए महर्षि ने लिखा है कि राजा तथा सभा दोनो प्रजा के आधीन होने चाहिएँ। प्रजा भी अपने इस महत्त्व का कही अनुचित लाभ न उठाले, अत: उन्होने पुनः कहा कि प्रजा राजसभा के आधीन हो। इस प्रकार महर्षि ने राज्यचक्र स्थापित किया है, जिससे राष्ट्र का प्रत्येक अग स्वतन्त्र न होकर एक दूसरे के आधीन है।

महर्षि जी ने धर्म को प्रधानता प्रदान करते हुए विद्यासभा, धर्मसभा तथा राजसभा (न्यायसभा) तीन सभाये स्वीकृत की हैं :

सभाध्यक्ष

इन तीनो सभाओ के अध्यक्ष किन गुणो से समन्वित हो, इस बात का परिचय देना भी महर्षि जी नही भूले, उन्होने स्पष्ट रूप से कहा :—

तपत्यादित्यवच्चैष चक्षूषि च मनांसि च।
न चैन भुवि शक्नोति कश्चिदप्यभिवीक्षितुम् ॥
सोऽग्निर्भवति वायुश्च सोऽर्क. सोम स धर्मराट्।
स कुबेर स वरुण. स महेन्द्रः प्रभावतः ॥

अर्थात् जो सूर्यवत् प्रतापी होकर अपने तेज से सब मनुष्यो के बाहर एवं भीतर दोनो को तपाने वाला हो, जिसको पृथ्वी पर कड़ी दृष्टि से देखने मे कोई भी समर्थ न हो। जो अपने प्रभाव से अग्नि, वायु, सूर्य, चन्द्रमा के समान हो। धर्म प्रकाशक, धन वर्धन, दुष्टो का दमन करने वाला तथा बड़े ऐश्वर्य वाला हो, वही सभाध्यक्ष होना ठीक है। परन्तु आज के भारत मे सभाध्यक्ष बनाते समय इन बातो का कोई भी ध्यान नही रखता। आजकल तो दलो की

दल-दल मे फँसकर बुद्धिमान सदस्य भी बहुश्रुत को छोड़कर अल्पश्रुत को सभाध्यक्ष बना डालते हैं। इस प्रकार के अध्यक्ष अपने दल के सदस्यो की कठ-पुतली ही बने रहते है, क्योकि उनमे स्वतन्त्र विचार की कमी होती है।

सच्चा राजा दण्ड

महर्षि दयानन्द आलंकारिक रूप मे दण्ड को ही सच्चा राजा बतलाते हैं। क्योकि हम दैनिक जीवन मे देखते है कि राजा से भय खाने का अर्थ लोग उसके द्वारा मिलने वाले दण्ड से लेते है। दण्ड के विषय को लेकर सस्कृत-साहित्य में बहुत कुछ लिखा गया है। कौटिल्य अर्थ-शास्त्र मे अनेक आचार्यो के मत निर्देशन के अध्याय मे लिखा गया है "आन्वीक्षकीत्रयी वार्तानां योगक्षेमसाधनो दड:"

अर्थात् आन्वीक्षकी (न्याय विद्या) त्रयी (वेद विद्या) और वार्ता (कृषि, पशुपालन एवं व्यापार) इनके सुचारु रूप से संचालन के लिए दड ही एक मात्र समर्थ है। आगे चल कर इसी प्रसग मे कहा है" तस्यामायत्ता लोकयात्रा" अर्थात् इस दड नीति के आधीन ही सारी ससार यात्रा है। परन्तु कौटिल्य इस नीति विपक्ष मे अपना मत देते हुए कहते हैं—

"नेति कौटिल्य.। तीक्ष्णदण्डो हि भूतानामुद्वेजनाय।
मृदु दण्ड. परिभूयते। यथार्थदण्ड पूज्य."।

अर्थात् तीक्ष्ण दड देने से प्रजा उखड जाती है और जो राजा थोड़ा और मृदु दड देता है, लोग उसका तिरस्कार करने लग जाते हैं। इससे राजा को उचित है कि वह दड का उचित प्रयोग करे। महर्षि दयानन्द ने भी अपने सत्यार्थ-प्रकाश मे इनसे मिलते-जुलते विचार प्रकट किये हैं। उन्होने लिखा है "कि जहाँ दड सारी प्रजा को शासन मे रखता है, वहा उसका सदुपयोग ही एक मात्र मुख्य कारण है:—

समीक्ष्य स धृतः सम्यक् सर्वा रंजयति प्रजा।।

अर्थात् भली प्रकार सोच समझ कर दिया गया दड सदा प्रजा को प्रसन्न रखता है। यदि इस दंड का उचित प्रयोग न किया जाय तो यह सर्व प्रकार से राजा को नष्ट कर देता है। महर्षि ने अपने सत्यार्थप्रकाश मे यह लिख कर कि—"यत्र श्यामो लोहिताक्षो दण्डश्चरति पापहा" दंड का मानवीकरण

किया है। मानवीकरण के साथ-साथ यह श्लोक शब्द चित्र का भी सुन्दर दृष्टान्त है। यहाँ दंड को श्याम वर्ण कह कर उसकी भयानकता का दिग् दर्शन करवाया गया है। तथा लोहिताक्ष कह कर दंड के क्रोधी स्वभाव का परिचय दिलाया गया है।

परन्तु यह कृष्ण वर्ण, लोहिताक्ष दड किस प्रकार के राजा के वशीभूत होकर उसका सनातन सेवक रह सकता है। इस बात को महर्षि दयानन्द जी इस श्लोक से प्रकट करते हैं।

शुचिना सत्यसन्धेन यथा शास्त्रानुसारिणा।
प्रणेतु शक्यते दण्डः सुसहायेन धीमता॥

अर्थात् जो पवित्रात्मा, सत्याचरणी, सज्जन पुरुषो का सगी, यथावत् नीति-शास्त्र के अनुकूल चलने वाला, और श्रेष्ठ पुरुषो की सहायता युक्त बुद्धिमान राजा होता है वही न्यायरूपी दड के चलाने मे समर्थ होता है। इस श्लोक मे "सुसहायेन" शब्द प्रत्यक्ष रूप से यह इगित करता है कि राजा को अपने मन्त्रियो से भी दंड देते समय मन्त्रणा करना अनिवार्य है। यह मन्त्रियो से विचार-विमर्श न किया गया तो राज्य मे अराजकता फैल जायेगी और 'मत्स्यन्याय" आरम्भ हो जाएगा। इस न्याय के आधार पर जिस प्रकार समुद्र में बडी मछली छोटी मछली को खा जाती है, उसी प्रकार बलवान मनुष्य निर्बल को हडप कर जाएगा।

मन्त्री परिषद् की सख्या

राजा की सलाहकार सभा के सदस्य तीन से लेकर दस तक होने चाहिए ऐसा महर्षि अपने सत्यार्थप्रकाश मे लिखते हैं। परन्तु महर्षि जी ने इनकी सख्या इतनी ही क्यो हो इसमे कोई कारण तथा तर्क उपस्थित नही किया। इसकी पुष्टि के लिए हमे कौटिल्य के अर्थ-शास्त्र का आश्रय लेना होगा। अर्थ-शास्त्र मे लिखा है:—

सहायसाध्यं राजत्वं चक्रमेकं न वर्तते।
कुर्वीत् सचिवास्तस्मात्तेषां शृणुयान्मतम्॥

अर्थात् राज्य का रथ अकेले राजा के एक पहिये से नही चल सकता। इसको मन्त्री रूपी दूसरे चक्र की आवश्यकता है। अतः यह बात सोचकर राजा

को मंत्री अवश्यमेव रखने चाहिएँ और समय पर वह उनके विचारो को ध्यान पूर्वक सुने। यदि मंत्री संख्या मे एक ही होगा तो वह अपनी इच्छानुसार चला कर राष्ट्र को नष्ट-भ्रष्ट कर सकता है। न ही राजा को दो मन्त्री रखने उचित हैं,क्योकि यदि वे दोनो मत्री परस्पर एक मत हो जायँ तो उस समय राजा का उचित रूप से मन्त्र सिद्ध नही होता। अत. कम से कम तीन और अधिक से अधिक दस मन्त्री होने चाहिएँ। ये मन्त्री किस योग्यता के हो, इसे महर्षि जी निम्न प्रकार कहते है.—

मौलान् शास्त्रविद: शूरांल्लब्धलक्षान् कुलोद्गतान्।
सचिवान्सप्त चाष्टौ वा प्रकुर्वीत परीक्षितान्॥

अर्थात् स्वराज्य मे उत्पन्न, वेदादिशास्त्रो के जानने वाले शूर-वीर लक्ष्य से भ्रष्ट न होने वाला कुलीन और जिनकी प्रथम सकट काल मे परीक्षा की जा चुकी हो ऐसे मन्त्री होने चाहिएँ। परन्तु आज के युग मे मन्त्रियो की क्या कसौटी है, यह जानना नितान्त दुर्लभ है।

अध्यक्ष और सदस्य होने की योग्यता

प्राचीन काल मे अध्यक्ष तथा सदस्यो के लिए "कॉड आफ कॉनडक्ट" अर्थात् "आचार संहिता" का भी विधान था। यदि इस "आचार सहिता" के आधार सहिता के नियमो के अनुरूप कोई व्यक्ति पूरा उतरता है तो वह अध्यक्ष तथा सदस्य होने के योग्य है, अन्यथा नही। महर्षि सत्यार्थप्रकाश में स्पष्ट लिखते है:—

त्रविद्य भ्यस्त्रयी विद्या दण्डनीति च शाश्वतीम्।
आन्वीक्षकी चात्मविद्यां वार्तारम्भाश्च लोकत.॥
इन्द्रियाणां जये योग समातिष्ठेद्दिवानिशम्।
जितेन्द्रियो हि शक्नोति वशे स्थापयितुं प्रजा.॥

अर्थात् अध्यक्ष और राजसभा के सभासद् उसी समय हो सकते है, जब कि वे चारो वेदो की कर्म, उपासना और ज्ञान विद्या के जानने वालो से तीनो विद्या, राजकीय कार्यो मे प्रयुक्त होने वाली शाश्वत दण्डनीति, न्याय विद्या आत्म विद्या अर्थात् परमात्मा के गुण कर्म स्वभाव-वाली ब्रह्म विद्या तथा लोगो से वार्ताओ का आरम्भ (कहना और पूछना) सीख ले, इसी अवस्था मे सभापति तथा सदस्य होने का अधिकारी है।

यहाँ हमे महर्षि के "वार्तारम्भाश्चलोकत:" को लेकर कुछ कहना है। महर्षि दयानन्द ने वार्ता का अर्थ सत्यार्थप्रकाश मे "कहना और पूछना" लिखा है। परन्तु हमारे विचार से यह अर्थ यहाँ अधिक संगत प्रतीत नही होता। यहाँ वार्ता का अर्थ "कृषि, पशुपालन और व्यापार भी साथ-साथ मे होना चाहिए था। क्योकि वार्ता का अर्थ अर्थ-शास्त्र के प्रणेता आचार्य चाणक्य और मनुस्मृति के प्रसिद्ध टीकाकार कुल्लुस्वामी ने भी इस प्रकार किया है:—

कृषि पशुपाल्ये वाणिज्या वार्ता।

उपरिवर्णित गुणो का प्रत्येक सदस्य मे अनिवार्य मेल होना चाहिए। क्योकि जिन सदस्यो ने मिलकर राष्ट्र निर्माण का कार्य करना है वे अवश्यमेव राष्ट्र-सम्बन्धी नीतियो और व्यापारो के वेत्ता तथा पारदर्शी होने चाहिएँ। इसके अतिरिक्त महर्षि जी कहते हैं कि सदस्यो मे कुछ बातें नही भी होनी चाहिएँ।

दश काम समुत्थानि तथाष्टौ क्रोधजानि च।
व्यसनानि दुरन्तानि प्रयत्नेन विवर्जयेत्॥

अर्थात् काम से उत्पन्न होने वाले अवगुण, जैसे—मृगया खेलना, अक्षो का खेल, दिन मे सोना, काम-कथा, स्त्रियो का अतिसग, मादक द्रव्य, गाना बजाना, नाचना, और वृथा इधर-उधर घूमना ये दश कामज अवगुण सदस्यो मे नही होने चाहिएँ। तथा क्रोध से उत्पन्न होने वाले आठ व्यसन अर्थात् किसी की चुगली करना, चोरी तथा परस्त्री-हरण, द्रोह रखना, ईर्ष्या, असूया, अर्थ दूपण अर्थात् धन को बुरे कार्यो मे लगाना और कठोर वचन सहित बिना अपराध के दण्ड देना इन अवगुणो को सदस्य और अध्यक्ष त्याग दे। परन्तु आज भारतवासी इन अवगुणो को ही गुण मान बैठे हैं। आज सास्कृतिक समारोहो का ढोग रचकर अनैतिकता का प्रचार हो रहा है। क्या गाना बजाना ही एक मात्र सांस्कृतिक कार्य होता है?

योजना (स्कीम)

राजा अपने राज्य को ठीक रखने के लिए कुछ योजनायें बनाए। राजा की इस योजना के आधारस्तम्भ मत्री, दूत और चर होते हैं। मन्त्रियो के

विषय मे ऊपर लिखा जा चुका है। यहाँ अब दूतो और चरो के विषय में महर्षि द्वारा मान्य विचार प्रस्तुत किये जाते हैं।

दूत तथा चर

वस्तुतः दूत सन्धि मे बन्धे राष्ट्रो को विग्रहयुक्त और विग्रहयुक्त राष्ट्रों को सन्धि संयुक्त कर सकता है। वह अपनी नीति द्वारा प्रतिपक्षियो के संगठन को छिन्न-भिन्न कर सकता है। अत' राजा को बहुत विचार-विनिमय के उपरान्त दूतो की नियुक्ति करनी चाहिये। ये दूत गुण, कर्म, स्वभाव एवं बुद्धि के अनुसार तीन प्रकार के होते हैं (१) निसृष्टार्थ, (२) परिमितार्थ, तथा (३) शासनहर। इन दूतो से राजा अपने मित्र उदासीन एवं शत्रु राजाओ से समयानुसार सन्धि, विग्रह, यान, आसन, संश्रय और द्वैधी भाव आदि षड् गुणो का व्यवहार करे। इन दूतो की नियुक्ति देश से बाहर होती है परन्तु अपने ही देश मे राजद्रोहियो की गतिविधि का निरीक्षण करने के लिए राजा गुप्तचरो का जाल भी बिछाये।

योजना का मुख्य अग सैन्य-संचालन भी है, सैन्य-संचालन के अभाव में ही उपूसी और लद्दाख मे भारतीय सेनाओ को अतीव क्षति उठानी पडी। राजा तथा सेनापति किस परिस्थिति मे किस प्रकार की व्यूह रचना करे इसका विस्तृत वर्णन भी सत्यार्थप्रकाश मे है।

राज्य-प्रबन्ध

राज्य की सुव्यवस्था के लिए राजा अपने राज्य मे कम से कम अट्ठारह विभाग स्थापित करे। इन अट्ठारह विभागो के अध्यक्ष नीति धर्मपूर्वक सदा तत्पर रहकर कार्य करे। इसके साथ-साथ राजा अपने राज्य मे प्रजा की सुविधा के लिए राज्य से सम्बन्धित एकाइयाँ स्थापित करे। इस बात को महर्षि जी अपने सत्यार्थप्रकाश मे इस प्रकार लिखते है:—

द्वयोस्त्रयाणां पचानां मध्ये गुल्ममधिष्ठितम्।
तथा ग्राम शताना च कुर्याद् राष्ट्रस्य सग्रहम्॥

अर्थात् दो, तीन, पाँच और सौ ग्रामो के मध्य एक राज-स्थान रखे। यहाँ राज-स्थान से अभिप्राय तहसील, थाना आदि से लिया जाना उपयुक्त है। इसी

क्रम से राजा गाँव में नम्बरदार, तीन चार गाँवो के मध्य जेलदार आदि अधिकारियो की नियुक्ति करे। राजा इन अधिकारियों पर निरन्तर दृष्टि रखे, कही ऐसा न हो कि ये अधिकारी व्यर्थ मे प्रजा को सताते रहे। राज्य प्रबन्ध की सफ़लता के लिए राजा अपराधियो को अपराधानुसार दण्ड देता रहे। राजा अर्थ-व्यवस्था के लिये प्रजा से कर भी ले परन्तु वह कर प्रजा पर भार-रूप न हो।

इससे आगे महर्षि जी प्रश्नोत्तर विधि का आश्रय लेकर अपने विचारो को प्रकट करते है। यदि राजा या उसकी पत्नी राज्य के विरुद्ध व्यवहार करे तो उस विषम परिस्थिति मे क्या होना चाहिए। इस समस्या का समाधान महर्षि जी ने सरलतापूर्वक यह कहकर कर दिया कि उनको राज्य सभा दण्ड दे। उन्हे राज्य-सभा का दण्ड अनिवार्य रूप से मानना पड़ेगा।

इस प्रकार हम देखेंगे कि महर्षि दयानन्द राजनीति के विषय मे स्वतन्त्र एवं मौलिक विचारो के उद्घोषक हैं। उनकी यह घोषणा इस बात से और भी पुष्ट होती है कि अच्छे से अच्छे विदेशी शासन की अपेक्षा मूर्ख राजा के आश्रित स्वदेशी शासन उत्तम है।

●

स्वामी दयानन्द के सिद्धान्त उनके सत्यार्थप्रकाश में निहित है। यही सिद्धान्त ऋग्वेदभाष्य-भूमिका में हैं। स्वामी दयानन्द एक धार्मिक सुधारक थे। उन्होने मूर्तिपूजा से अविराम युद्ध किया।

—सर वेलण्टाइन चिरौल

ईश्वर के स्वरूप का दार्शनिक और वैज्ञानिक विवेचन

•

वेद की नित्यता पर प्रकाश

•

सत्यार्थप्रकाश के
सप्तम समुल्लास के आधार पर

•

पं० क्षितीश कुमार वेदालंकार, एम० ए०

•

सप्तम समुल्लास में ईश्वर और वेद का विषय वर्णित है। उन दोनो के सम्बन्ध मे ऋषि का मन्तव्य अन्य सब मतवादियो से भिन्न है। इसीलिए इन दोनो विषयो पर अन्य मतावलम्बियो से शास्त्रार्थ भी कम नही होते रहे है। परन्तु ऋषि का मन्तव्य कितना मौलिक और युक्तियुक्त है यह इस समुल्लास को पढने से ही विदित हो सकता है। यूरोपीय विद्वानो ने वेद में अनेकेश्वरवाद का भ्रम प्रसारित किया है। इसी प्रकार ईश्वर के सृष्टि कर्तृत्व, उसकी निराकारता, सर्वशक्तिमत्ता और सर्वज्ञता आदि के विषय में भी भारी भ्रम फैला हुआ है। विषय जटिल होने पर भी स्वाध्यायशील लेखक ने दार्शनिक और वैज्ञानिक ढंग से ऋषि के मन्तव्य पर प्रकाश डाला है। अवतारवाद का और अद्वैतवाद का खण्डन लेखक ने जहाँ नए ढंग से किया है वहाँ वेदज्ञान की आवश्यकता पर भी अपने ढंग से प्रकाश डाला है।

—सम्पादक

[illegible]

अनेक विद्वानों की यह धारणा है कि वेद में अनेक ईश्वरों का वर्णन है , पौराणिकों के विभिन्न सम्प्रदाय और उनमे पृथक्-पृथक् आराध्यदेवों का प्रचलन देखकर ही शायद उन्होंने यह धारणा बनाई हो । पौराणिकों के आचरण को देखकर उसे वेद पर आरोपित करने की भूल करने वालो में सबसे आगे है वे पाश्चात्य विद्वान् जिनके वेद सम्बन्धी प्रभूत परिश्रम के आगे नत-मस्तक होकर भी हमें यह कहने में तनिक भी सकोच नही कि वेद मे अनेकेश्वरवाद (Polythiesm) सिद्ध करने की उनकी चेष्टा दुश्चेष्टा मात्र है ।

वेद मे अनेक ईश्वरो के वर्णन की कल्पना एक और भ्रम पर भी आधारित है । आजकल विज्ञान की प्रत्येक शाखा में प्रचलित विकासवाद के आधार पर सोचने वाले लोग यह समझते हैं कि एक ईश्वर की कल्पना बौद्धिक ज्ञान की पराकाष्ठा की द्योतक है, और वेद क्योंकि आदिम रचना है, इसलिए आदिकाल के लोगो की बुद्धि का विकास इतना नही हो सकता कि वे ईश्वर के एकत्व की कल्पना कर सकें । वे तो नदी-नालो, वृक्ष-वनस्पतियो, भूधरों, वर्षा, बादल, बिजली आदि प्राकृतिक विपर्ययों और भौतिक घटना-विलासो को ही देव समझकर पूजने लगे या उन्हीं मे ईश्वरत्व की बुद्धि रखने लगे । विकासवाद-जनित इसी कपोल कल्पना के आधार पर इस्लाम के मतानुयायी यहां तक कहने लगे कि संसार के बड़े धर्मों मे हमारा धर्म सबसे अर्वाचीन

है, इसलिए वह परिपूर्ण धर्म (Perfect religion) है और इस परिपूर्णता की कसौटी यह है कि इस्लाम मे एकेश्वरवाद पर सबसे अधिक बल दिया गया है। 'तौहीद की अमानत सीने में है हमारे'—कहकर इसी एकेश्वरवाद को इस्लाम का सबसे बड़ा वरदान स्वीकार किया गया है।

इस्लाम के इस एकेश्वरवाद की चकाचौंध से कुछ लोग इतने प्रभावित हुए कि उन्होने यहां तक कहने में संकोच नहीं किया कि मध्यकाल में शंकराचार्य ने अद्वैतवाद के दार्शनिक आधार पर ईश्वर के एकत्व का जो प्रचार किया वह इस्लाम के और मुसलमान सूफियो के एकेश्वरवाद से ही प्रेरित होकर किया। ऐसा कहने वाले भारतीय विद्वानो मे पं० सुन्दरलाल, डा० ताराचन्द और केन्द्रीय शिक्षा-मन्त्री डा० हुमायूं कबीर प्रभृति का नाम लिया जा सकता है।

ईश्वर एक है

जहाँ तक वेद का सम्बन्ध है, उसकी बात वेद के ही आधार पर कही जाए तो अच्छा है—क्योंकि अन्य ग्रन्थ के आधार पर कही हुई बात परतः प्रमाण होगी और उसके विवाद का विषय बन जाने की भी सम्भावना है। इसके अलावा वेद स्वय इतना समर्थ है कि उसे अपनी बात की पुष्टि के लिए किसी अन्य ग्रन्थ की सहायता की आवश्यकता नही।

वेद ने स्वयं ही उक्त गुत्थी सुलझा दी है। ऋग्वेद का एक मंत्र है—

एक सद्विप्रा वहुधा वदन्त्यग्नि यम मातरिश्वानमाहुः।
इन्द्र मित्र वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्॥

ऋक्० १।१६४।४६

ज्ञानी लोग एक ही ईश्वर को अनेक नामों से पुकारते हैं—अग्नि, यम, मातरिश्वा, इन्द्र, मित्र, वरुण, सुपर्ण, गरुत्मान्—सब उसी एक ईश्वर के नाम हैं। [देखिये सत्यार्थप्रकाश प्रथम समुल्लास—उसमें परमात्मा के इसी प्रकार के १०८ नामो की व्याख्या की गई है।]

इसी प्रकार "य एकश्चर्षणीना वसूनामिरज्यति" (ऋक्० १।७।९), "य एक इद्विद्यते वसुमर्त्याय दाशुषे" (ऋक्० १।८४।७), "ईशावास्यमिद सर्वं यत्किञ्च जगत्या जगत्" (यजु० ४०।१); "भुवनस्य यस्पतिरेक एव

नमस्य." (अथर्व० २।२।१)—इत्यादि अनेक मन्त्र चारों वेदों से उद्धृत किए जा सकते हैं, जिनसे ईश्वर का एकत्व प्रतिपादित होता है। विशेष बात यह है कि जहाँ ईश्वर की एकता के प्रतिपादक सैकड़ो मन्त्र हैं, वहाँ ईश्वर की अनेकता को सिद्ध करने वाला एक भी मंत्र प्रस्तुत करना कठिन है। इसी प्रसग मे अथर्ववेद (१३।४।२) के १६ से १८ तक के मन्त्र ध्यान देने योग्य है :

"न द्वितीयो न तृतीयश्चतुर्थो नाप्युच्यते। न पंचमो न षष्ठः सप्तमो नाप्युच्यते। नाष्टमो न नवमो दशमो नाप्युच्यते। स एक एव एकवृदेक एव।"

—उसे दूसरा, तीसरा और चौथा नहीं कह सकते। पाँचवां, छठा, सातवाँ भी नहीं कह सकते। आठवाँ, नवां और दसवां भी नही कह सकते। वह एक ही है, अकेला ही जगत् की उत्पत्ति-स्थिति-प्रलय करने वाला है। वह एक ही है।

अनेकेश्वरवाद का खण्डन करने वाला और ईश्वर की एकता का प्रतिपादन करने वाला इससे अधिक स्पष्ट और प्रांजल वर्णन संसार के अन्य किसी धर्मग्रन्थ मे नही मिल सकता—यह बात चुनौती देकर कही जा सकती है।

न सही अनेक ईश्वर, परन्तु वेद में अनेक देवताओं का तो वर्णन है ?

इसे कोई अस्वीकार नही करता। वेद में अनेक देवताओ का वर्णन अवश्य है, किन्तु उपासना के योग्य ईश्वर सर्वत्र एक ही बताया गया है। जहाँ तक देव या देवता शब्द की बात है वहाँ सर्वत्र समझना यह है कि 'देव' शब्द दिवु धातु से बनता है। उस दिवु धातु का व्याकरण-सम्मत अर्थ है—क्रीड़ा, विजिगाषा, व्यवहार, द्युति, स्तुति, मोद, मद, स्वप्न, कान्ति और गति। अर्थात् जिस किसी पदार्थ में इनमें से किसी भी गुण-विशेष का आधिक्य हो, वही देव कहलाएगा। संक्षेप से कह सकते हैं कि दिव्य गुण को धारण करने वाली प्रत्येक वस्तु देव कोटि मे आती है। पृथिवी, अग्नि, वायु, जल, चन्द्र, सूर्य आदि सब देव हैं क्योंकि विशिष्ट गुणों को धारण करने वाले हैं। विद्वानों को भी देव कहते हैं, क्योंकि वे अपनी विद्या के बल पर चमकते हैं। देववाची प्रत्येक शब्द प्रकारान्तर से परमात्मा का भी वाची होता है—क्योंकि आखिर सब देवों का अधिष्ठाता तो वही है। कौन-सा देववाची शब्द किस स्थान पर परमात्मा का

वाचक है और किस स्थान पर अन्य पदार्थ का, इसका निर्णय प्रकरण के अनुसार करना होगा। देवता अनेक होने पर भी आराध्यदेव केवल ईश्वर है और वह सब देवों का अधिष्ठाता है—वेद का यही सिद्धान्त है और इसमे कही शंका का स्थान नहीं है।

तैंतीस देवता

यजुर्वेद मे जो तैंतीस देवताओं का वर्णन आता है उसकी व्याख्या शतपथ के अनुसार इस प्रकार है—आठ वसु, ग्यारह रुद्र, बारह आदित्य, एक इन्द्र और एक प्रजापति (८+११+१२+१+१=३३) ये तैंतीस देवता है। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, चन्द्र, सूर्य और नक्षत्र—ये आठ वसु हैं क्योंकि ये समस्त सृष्टि के वास-हेतु हैं; इनके बिना सृष्टि की कल्पना नही की जा सकती। प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान, नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त, धनंजय और जीवात्मा ये ग्यारह रुद्र हैं क्योंकि जब ये शरीर को छोड़ कर जाने लगते है तो सबको रुलाते हैं। संवत्सर के बारह मास चैत्र, वैशाख, ज्येष्ठ, आषाढ़, श्रावण, भाद्रपद, आश्विन, कार्तिक, मार्गशीर्ष, पौष, माघ, फाल्गुन बारह आदित्य हैं क्योंकि ये सब की आयु को लेते जाते हैं। इन्द्र है बिजली—अन्तरिक्ष मे यह वृष्टि की जनक है और भूलोक मे वैज्ञानिक क्रान्ति की जनक है—इसीलिए ऋषि ने इसे परमैश्वर्य का हेतु बताया है। बिना उद्योगों के राष्ट्र समृद्ध नहीं हो सकता और बिना बिजली के उद्योगो का विस्तार नही हो सकता। उद्योगीकरण से राष्ट्र को ऐश्वर्यशाली बनाने के लिए ही बिजली की अधिकाधिक आवश्यकता है और इसीलिए इस दिशा मे इतना प्रयत्न किया जाता है। प्रजापति है यज्ञ। यज्ञ को प्रजापति इसलिए कहा है कि यज्ञ के द्वारा ही वायुमण्डल की शुद्धि, वृष्टि, जल और औषधि की शुद्धि होती है तथा विद्वानों के संगतिकरण से अनेक शिल्प-विद्याओं का विकास होता है—और ये ही सब प्रजापालन में सहायक हैं।

क्या ईश्वर का प्रत्यक्ष ज्ञान संभव है!

आप देवताओं की व्याख्या के चक्कर में पड़े है, परन्तु हम तो सब देवों के देव—ईश्वर—की सत्ता को ही अस्वीकार करते हैं। क्या ईश्वर का

अस्तित्व किसी तरह सिद्ध किया जा सकता है ?

यों तो ईश्वर की सत्ता को सिद्ध करने क लिए अन्य अनेक प्रकार की युक्तियाँ दी जा सकती हैं; किन्तु इस समुल्लास मे ऋषि ने अद्भुत ढंग से ईश्वर की सत्ता सिद्ध की है। जितने वैज्ञानिकम्मन्य लोग हैं, वे यह कहते है कि हम तो केवल प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानते है, अप्रत्यक्ष वस्तुतत्त्व मे हमारी आस्था नही। प्रयोगशाला मे बैठकर अपनी इच्छानुसार जिस पदार्थ को तोड़ने-फोड़ने, घटाने-बढ़ाने और जिसकी क्रिया-प्रतिक्रिया को जाँचने की सुविधा वैज्ञानिक को न मिले उस पदार्थ की सत्ता में वह विश्वास करे भी कैसे ? न्यूट्रोन, प्रोटोन, और इलेक्ट्रोन जैसे सूक्ष्म तत्त्वों तक पहुँच कर तो उसका 'अहम्' और भी फूल गया। वैज्ञानिक यह समझने लगा कि अणुबम बनाकर सृष्टि का संहार करने की कुञ्जी मैने अपनी मुट्ठी मे बन्द कर ली, इसलिए इस सृष्टि का कर्ता-धर्ता-संहर्ता मेरे सिवाय और कौन हो सकता है ?

ऋषि ने कहा कि ईश्वर का भी प्रत्यक्ष होता है। ईश्वर प्रत्यक्ष न होने की जिस युक्ति के भरोसे नास्तिकों के सब सम्प्रदाय और आधुनिक वैज्ञानिक-गण मन मे फूले नही समा रहे थे, ऋषि ने उसकी जड़ ही काट दी।

ईश्वर का प्रत्यक्ष कैसे होता है, अब यह देखिए।

न्याय-दर्शन के अनुसार, इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न जो निर्भ्रान्त और निश्चयात्मक ज्ञान है, वही प्रत्यक्ष कहलाता है। इन्द्रियाँ हैं—आँख, नाक, कान, जिह्वा और त्वचा तथा मन। आँख से रूप का अनुभव होगा, नाक से गन्ध का, कान से शब्द का, जिह्वा से रस का और त्वचा से स्पर्श का। अब रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द तो गुण हैं, किन्तु जब इन्द्रियो का इन गुणो से सन्निकर्ष होता है, तब हम आत्मायुक्त मन से गुणी का प्रत्यक्ष करते हैं। विज्ञान की दृष्टि से पदार्थ उसको कहते हैं जिसमें भार हो और जो स्थान घेरे। इस व्याख्या के अनुसार जैसे रूप रस आदि पदार्थों के गुण हैं, वैसे ही भार होना या स्थान घेरना भी गुण है, स्वय पदार्थ नहीं। रूप रस आदि का तो कोई भार भी नही होता, न ही वे स्थान घेरते हैं। समस्त संसार मे जितने भी पदार्थ हैं उन सब के गुणों का ही सम्पर्क हमारी इन्द्रियों के साथ होता है और उन गुणो के सम्पर्क से ही हम कहते हैं कि हमें अमुक पदार्थ

अर्थात् गुणी का प्रत्यक्ष हो जायगा जिस प्रकार हम सामान्य व्यवहार में गुण से गुणी का प्रत्यक्ष करते हैं उसी प्रकार इस समग्र सृष्टि रचना—चातुरी को देखकर इसके रचयिता अर्थात् गुणी परमात्मा का प्रत्यक्ष होता है। यदि कहा जाए कि परमात्मा का इस प्रकार प्रत्यक्ष हम नहीं मानते, तो लोक मे भी किसी पदार्थ का प्रत्यक्ष सम्भव नहीं, यदि लोक मे किसी भी पदार्थ का प्रत्यक्ष सम्भव है—जिससे न चार्वाक इन्कार करते हैं, न विज्ञान को सर्वेसर्वा समझने वाले कम्युनिस्ट तथा अन्य नास्तिक—तो सृष्टि को देखकर सृष्टिकर्ता का भी प्रत्यक्ष मानना ही होगा। सृष्टि रचना में कहीं चातुरी नहीं है, इस बात से कट्टर से कट्टर नास्तिक भी इन्कार नहीं कर सकता। चातुरी गुण है और वह गुणी का प्रत्यक्ष करवाने मे प्रमाण है।

एक अन्य युक्ति

ईश्वर की सत्ता मे एक और अकाट्य युक्ति है। नास्तिक लोग ईश्वर की सत्ता से भले ही इन्कार करें, किन्तु जीवात्मा की सत्ता से इन्कार करना उनके वस की भी वात नहीं। जीवात्मा की सत्ता का निषेध करना तो एक तरह से अपनी ही सत्ता का निषेध करना हुआ—और अहम्भाव से ओत-प्रोत वैज्ञानिकम्मन्य ऐसा कैसे कर सकता है। प्रश्न यह है कि जब मनुष्य परोपकार का या भलाई का कोई काम करने लगता है तव उसके मन मे भलाई के लिए उत्साह और प्रेरणा कहाँ से पैदा होती है? और जब मनुष्य कोई अनाचार या बुराई का काम करने लगता है, तब उसके मन मे भय शका और लज्जा की भावना कौन पैदा करता है? मनुष्य का मन तो सदा पानी की तरह नीचे की ओर, पतन की ओर, जाने के लिए उद्यत रहता है, उत्थान के पथ पर बढ़ने की उमंग उसमे कहाँ से पैदा होती है? कहना नही होगा कि यह काम परमात्मा की ओर से होता है। जीवात्मा तो इस विषय मे सर्वथा तटस्थ है, बल्कि मन की गति के साथ ही चलने की ओर उसका झुकाव अधिक रहता है। अच्छाई की प्रेरणा और बुराई से संकोच ऐसी सार्वत्रिक भावना हैं कि पापी से पापी आदमी भी इसकी सचाई से मना नहीं कर सकता। परम दार्शनिक, परम वैयाकरण और साहित्यिक योगिराज भर्तृहरि ने इसीलिए ईश्वर की सिद्धि का का एकमात्र प्रमाण 'स्वानुभूत्येकमानाय' कह कर दिया है—अर्थात् ईश्वर की सत्ता का एकमात्र प्रमाण अपनी अनुभूति है। और जिसको एक बार

अच्छाई के प्रेरक और बुराई के निवारक प्रभु की सत्ता की अनुभूति हो गई है, सारा संसार भी अपने तर्कजाल के अम्बार के बल पर उसे अनुभूति से विरत नही कर सकता। यही अनुभूति महापुरुषो के संघर्षों का और विपरीत परिस्थितियो का मुकाबला करने की शक्ति प्रदान करती है।

ईश्वर सर्वव्यापक है

अच्छा मान लिया कि ईश्वर है, किन्तु वह रहता कहाँ है ? कोई कहता है कि वह गोलोक मे रहता है, कोई कहता है कि क्षीरसागर में शयन करता है, कोई कहता है कि कैलाश पर निवास करता है। कुछ लोग चौथे आसमान पर और अन्य लोग सातवें आसमान पर उसका निवास बताते है। आखिर जब ईश्वर है तो कही न कही रहता भी होगा ही ?

रहता क्यो नहीं, रहता है, किन्तु कहीं या किसी एक स्थान पर नहीं रहता, ईश्वर सब स्थानो पर रहता है। कभी भी किसी ऐसे स्थान की कल्पना नहीं की जा सकती जहाँ ईश्वर न हो। वह सर्वव्यापक है। किसी स्थान-विशेष पर उसकी कल्पना करने से वह एकदेशी हो जाएगा। जो एकदेशी होगा वह सर्वव्यापक नही हो सकता। जो सर्वव्यापक होगा वह एकदेशी नही हो सकता। दोनों परस्पर-विरोधी बातें हैं। जिन लोगो ने परमात्मा को किसी एक स्थान पर प्रतिष्ठित माना है वे प्रकारान्तर से उसके सर्वव्यापक होने का खण्डन करते है। किसी एक स्थान पर होने का अर्थ ही यह है कि वह उससे भिन्न स्थान पर नहीं है। जो यहाँ है और वहाँ नही या वहाँ है और यहाँ नहीं, वह सर्वव्यापक कैसा ?

क्या ईश्वर साकार है

इसके साथ ही प्रश्न जुडा हुआ है कि परमात्मा साकार है या निराकार ?

ईश्वर को साकार मान लेना जितना आसान है उतना ही कठिन है उसे साकार सिद्ध करना। जो साकार है, वह सर्वव्यापक कैसे हो सकता है ? जो व्यापक नही, वह सर्वज्ञ भी नही हो सकता, सर्वान्तर्यामी भी नहीं। जिसका आकार होगा, वह परिमित होगा और परिमित वस्तु के गुण, कर्म, स्वभाव भी परिमित होंगे। परिमित वस्तु को सर्दी, गर्मी, भूख, प्यास, रोग, शोक और

छेदन-भेदन का भी शिकार होना पड़ेगा। इसलिए ईश्वर न परिमित है, न ही साकार। साकार हो तो उसका कुछ न कुछ आकार होगा, वह लम्बा, चौड़ा, गोल, चपटा—कुछ तो होगा ही, उसका आयतन और आयाम दोनो ही मानने होगे। और आयतन और आयाम दोनो मानते ही वह भारवान् और और विस्तारवान् भौतिक-पिण्ड मात्र रह जाएगा।

यदि लम्बाई-चौडाई वाला कोई ज्यामितिक और भौतिक पिण्ड नही, तो क्या वह मानवाकृति वाला कोई पदार्थ है ? "God made the man in His own image"—परमात्मा ने मनुष्य को अपनी नकल पर बनाया—यह कहने वाले समझते हैं कि असल भी नकल से मिलता-जुलता ही होना चाहिए—अर्थात् परमात्मा की भी आदमी जैसी ही शक्ल है। परमात्मा को अवतार लेने वाला बताने वाले भी ईश्वर की आदमी जैसी ही शक्ल मानते हैं, वैसे ही आँख, कान, नाक आदि सभी अवयव। ईसा को परमेश्वर का पुत्र मानने वाले ईसाई, हजरत मुहम्मद साहब को खुदा का भेजा हुआ खास पैगम्बर मानने वाले मुसलमान या राम और कृष्ण आदि के रूप मे परमात्मा का अवतार मानने वाले पौराणिक बन्धु—ये सब इस दृष्टि से समान हैं। इन सब के मन मे परमात्मा मनुष्याकृति वाला है और वैसे ही हस्तपादादि अवयवों से संयुक्त है। वेद में भले ही "अज एक पात्" कह कर प्रभु को अजन्मा और "सपर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरम्" कहकर उसे शरीर रहित और नस नाडी से रहित बताया गया हो एव भले ही उपनिषदों में उसे "अपाणिपादो जवनो ग्रहीता स पश्यत्यचक्षु सः शृणोत्यकर्णः" कहकर उसे हस्तपादादि कर्मेन्द्रियो और चक्षु-श्रोत्रादि ज्ञानेन्द्रियो से रहित बताया गया हो, किन्तु एक अन्ध-परम्परा चल पड़ी है और उसी के अनुसार लाखो-करोड़ों लोग अवतारवाद के अभिशाप से ईश्वर के मानवाकृति होने के भ्रम से निकल नही पाते। अवतारवाद को सबसे अधिक प्रश्रय देने वाला गीता का यह श्लोक है—

> यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
> अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मान सृजाम्यहम् ॥
> [अ० ४।७]

—श्री कृष्ण जी कहते है कि जब-जब धर्म का ह्रास होता है और अधर्म का विकास होता है, तब-तब मै अपने आपको पैदा करता हूँ (शरीर धारण करके अवतार ग्रहण करता हूँ ।)

गीता का उचित स्थान

यहाँ गीता के सम्बन्ध मे केवल इतना कह देना पर्याप्त है कि वह स्वतन्त्र ग्रन्थ न होकर महाभारत का एक अंश मात्र है, इसलिए उसकी प्रामाणिकता भी उतनी ही है जितनी महाभारत की । इसी से यह बात भी स्पष्ट हो जान चाहिए कि गीता के सम्बन्ध मे जो यह प्रवाद प्रचलित है कि उसमें श्रीकृष्ण के मुख से निकले हुए वचन है ("या स्वय पद्मनाभस्य मुखपद्माद् विनिस्सृता")—उसमें कोई तथ्य नहीं है । जिस तरह शेष महाभारत, जिसका असली नाम 'जय' हैं और जिसमें मूलतः केवल बीस हजार श्लोक थे, महर्षि व्यास की कृति है वैसे ही गीता भी महर्षि व्यास की ही रचना है । पूछा जा सकता है कि फिर गीता की इतनी लोकप्रियता का रहस्य क्या है । इसका उत्तर हम यह देंगे कि जिस प्रकार महात्मा गांधी के सर्व-धर्म-समन्वयवाद ने सभी धर्मावलम्बियो को अविरोध भाव से एकत्र होने की प्रेरणा दी और इसीलिये लोक संग्रह की दृष्टि से महात्मा गांधी सबसे अधिक सफल और लोकप्रिय नेता कहे जा सकते हैं, वैसे ही, गीता में सभी दार्शनिक सम्प्रदायों का ऐसा अद्भुत समन्वय है कि सभी को उसमें अपने पक्ष का पोषण मिल जाता है । इसीलिए गीता अपने चारो ओर इतना लोकसंग्रह कर सकी । दार्शनिक विवेचना करने वालों को गीता में परस्पर-विरोधी बाते भी मिल जाएँगी, पर एक ही साथ 'रामाय स्वस्ति' और 'रावणाय स्वस्ति' कहने वाले के पीछे जैसे राम और रावण दोनों के अनुयायी चलने को तैयार हो जाएँगे, बहुत कुछ वही हाल गीता का भी है ।

श्लोक का अर्थ

यदि समाजशास्त्र की दृष्टि से गीता के उक्त श्लोक की व्याख्या की जाए तो उसमें एक ऐसे ऐतिहासिक सत्य का उद्घाटन है जिससे इन्कार नहीं किया जा सकता । जब-जब धर्म की ग्लानि और अधर्म के अभ्युत्थान का अर्थ यह

समझा जा सकता है कि जब-जब किसी जाति का सामाजिक और राजनैतिक दृष्टि से अध.पतन हो जाता है तब-तब उसमे ऐसे महापुरुष पैदा होते हैं जो उस जाति को पतन के गर्त से निकाल कर उन्नति के शिखर पर ले जाने का प्रयत्न करते हे। इतिहास की शिक्षा यही है कि कोई भी महापुरुष जन्म से महापुरुष नहीं होता, किन्तु अपने समय की परिस्थितियां ही उसे महापुरुष बनाती हैं। पराधीन भारत मे दयानन्द, गांधी, तिलक, विवेकानन्द, रवीन्द्र, सुभाष प्रभृति जैसे नररत्न पैदा हुए क्या वैसे नररत्नो की कल्पना स्वाधीन भारत में की जा सकती है। जितनी तीव्र क्रिया होगी, उतनी ही तीव्र प्रतिक्रिया होगी—यह विज्ञान का सिद्धान्त है। भारत का जितना तीव्र अध·पतन हुआ था उसी का यह परिणाम था कि उसने अनेक ऐसी विभूतियो को जन्म दिया जो केवल भारत-वन्द्य नहीं प्रत्युत् विश्ववन्द्य हैं। दु.ख को इसीलिए रसायन कहा जाता है।

यदि मनोविज्ञान-परक अर्थ इस श्लोक का किया जाए तो उसे यों समझा जा सकता है कि अपने चारों ओर धर्म को घटता और अधर्म को बढता देखकर किसी दृढ़संकल्प धर्मात्मा व्यक्ति के मन में यह भाव आ सकता है कि मै अधर्म का नाश करके धर्म का राज्य स्थापित करूँगा। यह भी एक शाश्वत सामाजिक प्रवृत्ति है जो सभी धार्मिक महापुरुषो के जीवन मे स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है। इस प्रवृत्ति को हृदयगम किए बिना विभिन्न देशो मे पैदा हुए विभिन्न महापुरुषों के जीवन की व्याख्या की ही नही जा सकती। यही वैज्ञानिक दृष्टिकोण भी है। इसीलिए इस श्लोक से अवतारवाद सिद्ध करने वालो को उत्तर देते हुए ऋषि ने लिखा है कि "वेद विरुद्ध होने से अवतार लेने की बात प्रमाण नही मानी जा सकती। किन्तु ऐसा हो सकता हे कि श्रीकृष्ण धर्म की रक्षा करना चाहते थे कि मै युग-युग मे जन्म लेकर श्रेष्ठों की रक्षा और दुष्टो का नाश करूँ तो इसमे कुछ दोष नहीं।" 'न त्वह कामये राज्य न स्वर्गं नापुनर्भवम्। कामये दु खतप्ताना प्राणिनामार्तिनाशनम्।' मै राज्य नही चाहता, स्वर्ग नही चाहता, मोक्ष भी नही, किन्तु दुःख से सन्तप्त नर-नारियों का दुःख नाश करने के लिए इस लोक मे जन्म ग्रहण करना चाहता हू—यही तो सत्पुरुष की असली मनोभावना है। और यह कितनी प्रबल होती है इसकी कल्पना

इसी से की जा सकती है कि दु:खीजनों के दु:ख नाश के लिए वह राज्य, स्वर्ग, मोक्ष सभी को तिलांजलि देने को तैयार है। मोक्ष न चाहने से ही यह अर्थ स्वय निकल आता है कि मै इस लोक में जन्म ग्रहण करना चाहता हूँ।

जैसे वेद को समझने के लिए वेद स्वयं सहायक है, वैसे ही गीता ने भी बहुत बार अपनी गुत्थियाँ अपने आप खोल दी है। उक्त श्लोक में यही तो कहा है न—'तदात्मान सृजाम्यहम्,—यहाँ 'आत्मानं' शब्द का क्या अभिप्राय है, यह गीता से ही पूछना चाहिए। जिस व्यक्ति ने 'गीता में 'तदात्मान सृजाम्यहम्' लिखा उसीने लिखा है 'योगी त्वात्मैव मे मतम्' —अर्थात् योगी को तो मै अपना आत्मा ही मानता हूँ। अब 'तदात्मानं सृजाम्यहम्' मे 'आत्मान' शब्द के स्थान पर 'योगिनम्' शब्द रख कर देखिए। 'तदा योगिनं सृजाम्यहम्' का अर्थ होगा; मैं योगी को पैदा करता हूँ।' (यहां 'सृजामि' शब्द को लुप्तणिजन्त' प्रयोग मानना होगा, अर्थात् 'सर्जयामि' के स्थान पर 'सृजामि' शब्द का प्रयोग हुआ है।) यदि 'सृजामि' को 'सर्जयामि' मानने मे बाधा हो और उक्त श्लोक को श्रीकृष्ण के ही मुख का वचन मानना हो तो अर्थ यह हो जाएगा कि, 'योगी के रूप में मैं जन्म लेता हूँ।'

अब जरा पूरे श्लोक का अर्थ देखिए, 'जब-जब धर्म की ग्लानि और अधर्म की वृद्धि होती है, तब-तब मैं किसी योगी (महापुरुष) को पैदा करता हूँ।' —यह अर्थ समाज शास्त्र के दृष्टिकोण से सर्वथा सुसंगत है। या दूसरा अर्थ यह होगा: 'जब-जब धर्म की ग्लानि और अधर्म की वृद्धि होती है, तब-तब कोई योगी (मैं) पैदा होता है (हूँ)। यह अर्थ मनोविज्ञान की दृष्टि से सुसगत है। इससे अधिक वैज्ञानिक दृष्टिकोण और क्या हो सकता है।

तर्क से अवतारवाद का खण्डन

इस प्रकार किसी प्रमाण से अवतारवाद के सिद्ध होने की सम्भावना नहीं। रही तर्क की बात, क्या तर्क से अवतार सिद्ध किया जा सकता है? यह और भी कठिन है। जब एक बार ईश्वर को सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, सर्वान्तर्यामी और निराकार मान लिया, तब तर्क से ईश्वर का अवतार कैसे सिद्ध किया जा सकता है? जो निराकार और सर्वव्यापक है वह आकार

ग्रहण करने के लिए मां के पेट में एक स्थानबद्ध कैसे रहेगा। फिर जो जन्म लेगा वह मरेगा भी अवश्य। जो जन्म और मरण के दोनों के चक्कर में पड़ा वह सामान्य मनुष्य ही होगा, ईश्वर नही। कहा जाता है कि राक्षस राज रावण और पापी कंस को मारने के लिए राम और कृष्ण के रूप में ईश्वर को अवतार लेना पड़ा। कैसी बचकानी-सी बात है। सोचिए, किसी चीज को बनाना अधिक आसान होता है या बिगाड़ना। जिस इमारत को सैकड़ों मजदूर मिल कर महीनो तक परिश्रम करके बनाते हैं उसी को चन्द मजदूर चन्द दिनो मे गिराकर रख देगें। मानना ही होगा कि बिगाड़ने की अपेक्षा बनाना कही कठिन कार्य है। सो रावण और कस जैसे व्यक्तियो को, फिर वह कितने ही शक्तिशाली क्यों न हों, पैदा करने के लिए यदि ईश्वर को अवतार लेने की आवश्यकता नही पडी तो उन्हे मारने के लिए अवतार लेने की आवश्यकता क्यों पडती ? जो ईश्वर सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय जैसे महान् कार्यो को करता है उसको किसी एक व्यक्ति का नाश करने के लिए भी अवतार लेना पडे, इससे तो ईश्वर का नहीं, किन्तु रावण और कंस का ही गौरव बढ़ता है। तब तो सर्वशक्तिमान् ईश्वर नहीं, रावण ही हुआ।

ईश्वर सर्वशक्तिमान् है

वाह, जब ईश्वर को सर्वशक्तिमान् कहते हो—अर्थात् वह सब कुछ कर सकता है—तो फिर अवतार ग्रहण क्यो नही कर सकता ?

यह भी एक बड़ा विचित्र भ्रम लोगो में फैला हुआ है। जिस प्रकार पौराणिक बन्धु परमात्मा को सर्वशक्तिमान् कह कर 'कर्तुमकर्तुमन्यथा-कर्तुम् - अर्थात् करे, न करे, या विपरीत करे—की सामर्थ्य ईश्वर मे मानते हैं, वैसे ही किरानी और कुरानी भी मानते हैं। निस्संदेह पुराणियो से ही यह मनोवृत्ति किरानी और कुरानियो मे गई है। जब ईसाई या मुसलमान कहते हैं कि हमारे पैगम्बर पर ईमान लाओ और उसकी सिफारिश से खुदा तुम्हारे सब गुनाह माफ कर देगा, तब वे भी परमात्मा की सर्वशक्तिमत्ता का यही अर्थ समझते है कि ईश्वर सब कुछ कर सकता है तो पापो को क्षमा क्यों नहीं कर सकता। प्राय आर्य समाज के साथ अन्य मतावलम्बियों का जब शास्त्रार्थ

होता है तब बहुधा इस शब्द पर खूब विवाद होता है। परन्तु वे यह नहीं समझते कि ईश्वर की महत्ता सृष्टि के नियमो का उल्लंघन करने में नही, किन्तु सब से उन नियमो का पालन करवाने मे है। यदि नियामक ही नियमों का उल्लघन करने लगे तो वह नियामक कहाँ रहा ?

यों समझिए—राष्ट्र का सविधान एक वार बन गया अब उस संविधान की अवहेलना न राजा कर सकता है, न प्रजा। यदि कोई भी उसका उल्लंघन करेगा तो उच्चतम न्यायालय उसे तुरंत अवैध ठहरा देगा और अवैध आचरण करने वाले का स्थान जेल के अन्दर होगा। यदि कर्म करने की स्वतन्त्रता के अधिकार की दुहाई चोर और डाकू भी देने लगें तो किसी भी राज्य मे न्याय और व्यवस्था कायम नही रह सकती। इसी प्रकार 'विषमप्यमृत क्वचिद् भवेदमृत वा विषमीश्वरेच्छया' —ईश्वर की इच्छा से चाहे जब अमृत विष बन जाए या विष अमृत बन जाए— तब संसार के जितने भी डाक्टर हैं वे किसी भी रोग का उपचार न कर सके। सृष्टि-रचना का, सृष्टि में उत्पन्न हुए प्रत्येक पदार्थ का एक विशेष नियम अथवा प्रयोजन है—उसी को सृष्टि रचना का संविधान कहिए। सृष्टि के आदि मे स्वयं ईश्वर ने ही वह संविधान बना दिया। उस संविधान का उल्लंघन न ईश्वर स्वयं कर सकता है और न ही उसकी प्रजा। राष्ट्रो के सविधान में सरकारो की इच्छा के अनुकूल संशोधन भी होते रह सकते है, किन्तु ईश्वर के सृष्टि रचना के सविधान में संशोधन भी नही हो सकता। जो है, सो है। क्योकि सशोधन अपूर्णता का द्योतक है, और ईश्वर के संविधान में अपूर्णता हो नहीं सकती, इसलिए उसमें संशोधन भी नहीं हो सकता। ईश्वरीय सविधान तो सदा एक जैसा ही रहेगा। ईश्वर की सार्थकता इसी में है कि जितने ग्रह नक्षत्र है और चराचर जगत् है, वह सब उसी के बनाए नियमों में गति करते रहे। यदि कहीं नियम का उल्लंघन हो गया तो सृष्टिचक्र में व्याघात पड़ जाएगा।

उदाहरण के लिए गणित का नियम है, दो और दो चार होते है। यह नियम सार्वत्रिक है, इसे न मै तोड सकता हूँ, न ईश्वर तोड़ सकता हे। मै तोड़ूँगा, तो मुझे व्यवहार में कठिनाई होगी, यदि परमात्मा तोडेगा तो उसके समस्त सृष्टिचक्र मे व्याघात उपस्थित होगा। ऐसे ही कार्य-कारण का

सिद्धान्त है—अर्थात् कारण के बिना कार्य नहीं हो सकता। इसे जैसे मैं नहीं तोड़ सकता, वैसे ही परमात्मा भी नहीं तोड़ सकता। इस नियम के टूटने पर अणुओं के घात-संघात और पदार्थों की क्रिया-प्रतिक्रिया में अव्यवस्था हो जाएगी और Cosmos के स्थान पर बहुत बड़ा Chaos उपस्थित हो जाएगा।

सर्वशक्तिमान् का अर्थ

कभी-कभी बड़े मनोरंजक प्रश्न भी इसी सिलसिले में किए जाते हैं। जैसे, परमात्मा अपने जैसा दूसरा परमात्मा बना सकता है या नही ? यदि कहे कि नहीं बना सकता तो वह सर्वशक्तिमान् नहीं रहा। यदि कहे कि बना सकता है—तो ईश्वर एक नही रहा, दो हो गए। और जो दूसरा—ईश्वर बनेगा भी, वह हूबहू पहले जैसा नहीं होगा, क्योंकि वह नकल ही होगी। यदि नकल को असल से बिलकुल मिला भी दिया, तब भी दूसरा बना हुआ ईश्वर पहले ईश्वर से हजारो साल आयु मे छोटा होगा—क्योंकि पहला ईश्वर सृष्टि के आदि काल से चला आ रहा है और दूसरा ईश्वर उसके हजारो सालों बाद प्रश्नोत्तर काल के समय बनाया गया। इसी तरह का दूसरा प्रश्न है; जैसे बच्चे खेल में मिट्टी-गारे से इतनी बड़ी ईंट बना लेते है कि वह उनसे भी नहीं उठती, क्या ऐसे ही ईश्वर भी इतनी बड़ी ईंट बना सकता है जो उससे भी न उठे। यदि कहे कि नहीं बना सकता —तो वही न बना सकने की अशक्ति वाली बात आ गई। यदि कहे कि बना सकता है तो न उठा सकने की बात आ गई। सर्वशक्तिमान वह दोनो तरह नहीं रहा। न हाँ कहने से, न ना कहने से। एक तीसरा प्रश्न है; मेरी इच्छा के विरुद्ध यदि मेरा नौकर काम करे तो मैं उसे अपने घर से बाहर निकाल दूँगा, किन्तु यदि मैं ईश्वर की इच्छा के विरुद्ध आचरण करूँ तो क्या परमात्मा मुझे अपने घर से बाहर निकाल सकता है ? यदि ना कहे तो सर्व-शक्तिमान् नहीं रहा, यदि हाँ कहे तो सर्वव्यापक नहीं रहा। आखिर परमात्मा मुझे अपने घर से बाहर निकालेगा कहाँ—क्या कहीं ऐसा स्थान है जहाँ परमात्मा न हो।

इसी को कहते हैं 'उभयत: पाशा रज्जु:।'—न हाँ कहने से छुटकारा मिले, न ना कहने से—दोनों ओर से गले में फन्दा। इसी प्रकार से अन्य अनेक

मनोरंजक प्रश्न किए जा सकते हैं। इन सब फाँसियों से बचने का केवल वही उपाय है जो ऋषि ने बताया है, अन्य कोई नही। अर्थात् सर्वशक्तिमान् का अर्थ यह नहीं है कि परमात्मा सब कुछ कर सकता है, बल्कि उसका अर्थ केवल इतना है कि परमात्मा के करने के जो काम हैं—अर्थात् सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय—वह स्वयं इतना समर्थ है कि इनके करने में उसे किसी अन्य की सहायता की अपेक्षा नहीं।

सर्वज्ञ और त्रिकालदर्शी

सर्वशक्तिमान् के साथ ही दूसरा शब्द आता है—सर्वज्ञ। यदि परमात्मा सर्वज्ञ है अर्थात् वह सब कुछ जानता है—तो वह अपना अन्त भी जनता होगा ? यह प्रश्न भी शास्त्रार्थोपयोगी ही है। ज्ञान उसको कहते हैं जो यथार्थ हो—अर्थात् जो चीज जैसी हो उसे वैसा ही जानना ज्ञान है, इसके विपरीत अज्ञान है। ईश्वर क्योंकि अनन्त है, इसलिए उसे अनन्त समझना ही ज्ञान है, इसके विरुद्ध समझना अर्थात् परमात्मा को सान्त समझना या नाशवान् भौतिक पदार्थों को अनन्त समझना अज्ञान है। योगदर्शन के अनुसार 'क्लेशकर्म-विपाकाशयैरपरामृष्ट. पुरुषविशेष ईश्वर' ईश्वर अविद्यादि क्लेशों से रहित और इष्ट-अनिष्ट या मिश्रित फलदायक कर्मो की वासना से रहित और सब जीवो से विशिष्ट है, इसलिए सामान्य जीवो की तरह मरण द्वारा परमात्मा का जन्मान्तर नहीं होता। और इस प्रकार उसके सम्बन्ध में यह प्रश्न नहीं बनता कि वह अपना अन्त जानता है या नहीं।

सर्वज्ञ का एक अर्थ है त्रिकालदर्शी—अर्थात् भूत, वर्तमान और भविष्यत् तीनो कालो को एक साथ प्रत्यक्ष देखने वाला। यहाँ यह प्रश्न होता है कि ईश्वर यदि त्रिकालदर्शी है तो वह यह भी जानता है कि जीव भविष्य मे क्या करेगा। इससे जीव का भावी कर्म ईश्वर के ज्ञान से बंध (Conditioned) गया। फिर जीव स्वतन्त्र कहाँ रहा। जीव भविष्य मे जो कर्म करेगा, यदि परमात्मा को उसका पहले से ही ज्ञान है, तो जीव ने एक तरह से वही काम किया जो ईश्वर ने अपने ज्ञान द्वारा उसके लिए पहले से निश्चित कर दिया, फिर किसी पाप कर्म के लिए वेचारे जीव को दण्ड क्यों ? यदि दण्ड मिलना

ही हो तो परमात्मा को ही मिले। न परमात्मा वैसा जानता, न जीव वैसा कर्म करता।

एक रस काल

यहाँ भी थोड़ा-सा भ्रम है। काल के जो तीन विभाग हैं—भूत, वर्तमान और भविष्यत्—ये केवल आपेक्षिक परिभाषाएँ (..elative Terms) हैं। मुझे अपने घर की छत पर चढ़कर जितनी दूर तक का प्रदेश दिखाई देता है, यदि मैं हवाई जहाज में बैठकर देखूं तो उसकी अपेक्षा बहुत अधिक विस्तृत प्रदेश का अवलोकन कर सकता हूँ। उपग्रह में बैठकर अन्तरिक्ष की यात्रा करने वाले गागारिन और तेरेशकोवा जैसे यात्रियों को सारी पृथ्वी भी एक साथ दीख जाती है। जैसे समीप और दूर की परिभाषाएँ सापेक्ष हैं। वैसे ही भूत और भविष्य की परिभाषाएँ भी सापेक्ष हैं। देश (Space) की दृष्टि से जिसे समीप और दूर कहते हैं उसी को काल (Time) की दृष्टि से वर्तमान तथा भूत और भविष्यत् कहते हैं।

यदि दार्शनिक दृष्टि से विश्लेषण करने बैठ ही जाएँ तो काल के उक्त तीनों खण्डों का अस्तित्व सिद्ध करना कठिन हो जाएगा। देखिए—भूत क्या है, जो वर्तमान बीत चुका है, वही भूत है। और जो वर्तमान आगे आने वाला है, वही भविष्यत् है। इस तरह भूत और भविष्यत् दोनों वर्तमान पर आधारित हैं। एक तरह से यह कहा जा सकता है भूत और भविष्यत् वर्तमान रूपी नदी के दो तट हैं। यदि नदा नहीं, तो दोनों तट भी नही रहेंगे। अब वर्तमान पर विचार करिए कि वह क्या है? वर्तमान का कुछ अंश भूत है और कुछ अंश भविष्य—जिस क्षण को आप वर्तमान कहना चाहते हैं उसका भी कुछ अश बीत चुका है और कुछ अश आगे आने वाला है—आपके कहते-कहते और आपके पकड़ते-पकडते वर्तमान का क्षण फिसलकर भूत और भविष्यत् की कोटि मे पहुँच जाता है अर्थात् वर्तमान वर्तमान नहीं रहता। और जब आपका वर्तमान ही टिक नही पाता तब उस वर्तमान के आधार पर चलने वाले आपके भूत और भविष्यत् कहाँ टिकेंगे—जब वर्तमान की ही नदी सूखी पड़ी है तब उसके भूत और भविष्यत् नामक दोनों तटो पर हरियाली कहाँ से आएगी? इसलिए कहना चाहिए काल अखण्ड और एकरस है। भूत और भविष्यत् की

परिभाषाएँ केवल अल्पज्ञ जीव के लिए हैं। जीवों के कर्मों की अपेक्षा से परमात्मा को त्रिकालज्ञ या त्रिकालदर्शी कहा जा सकता है। स्वत. ईश्वर के लिए त्रिकाल नहीं हैं—केवल एक ही महाकाल है और वह सदा उसके लिए वर्तमान ही है।

जीव कर्म करने में स्वतन्त्र

इससे न जीव के कर्म करने की स्वतन्त्रता में बाधा आती है, न ही परमात्मा की सर्वज्ञता में। जैसा कर्म जीव करता है, वैसा ही परमात्मा जानता है, और वैसा ही वह फल देता है। परमात्मा का जैसे जीव के कर्म का ज्ञान अनादि है, वैसे ही जीव द्वारा किए गए कर्म के फल का ज्ञान भी अनादि है। ये दोनो ज्ञान उसके सत्य हैं। सार रूप से यह कहा जा सकता है कि जीव अल्पज्ञ केवल वर्तमान को जानने वाला और कर्म करने मे स्वतन्त्र है, परन्तु फल भोगने में परतन्त्र है; और परमात्मा सर्वज्ञ—सब कालो को जानने वाला और जीव को कर्मानुसार फल देने में स्वतन्त्र है। परमात्मा की कर्मानुसार फल देने की स्वतन्त्रता भी उच्छृंखलता नही है, अर्थात् न तो वह पाप क्षमा करता है, न ही पुण्य के लिए दण्ड देता है और न ही पाप को पुरस्कृत करता है। जैसा जिसका कर्म, वैसा उसका फल। परन्तु जीव यदि यह चाहे कि मेरे पाप कर्म का फल मुझे न मिले जैसा कि आमतौर से लोग चाहते है, तो यह असम्भव है। कर्म का फल तो भोगना ही होगा? किस कर्म का कौन सा फल मिलेगा—यह ईश्वराधीन है और ईश्वर अपने बनाए संविधान के आधीन है।

अद्वैतवाद का खण्डन

इस समुल्लास मे ऋषि ने जीव और ब्रह्म की एकता का प्रतिपादन करने वाले अद्वैतवादियो का जिस विद्वत्तापूर्ण ढग से खण्डन किया है वह भी देखते ही बनता है। सुपठित भारतीय विद्वानो और साधु-सम्प्रदाय मे अद्यापि इस वाद की बहुत मान्यता है, परन्तु जिस आधार पर जीव और ब्रह्म की एकता स्थापित की जाती है, जैसे वह आधार निस्सार है वैसे ही उनके तर्क भी। परमात्मा के एकत्व के प्रति जो बौद्धिक रुझान आजकल दृष्टिगोचर होता है उसी का यह परिणाम है कि जीव और ब्रह्म को एक बताने वाली फिलासफी

आजकल बुद्धिवादी लोगों को अपनी ओर खींचती है। अद्वैतवादी जिन चार वाक्यों पर सबसे अधिक जोर देते है; वे चार वाक्य ये हैं—

प्रज्ञान ब्रह्म ॥१॥ अहं ब्रह्मास्मि ॥२॥ तत्त्वमसि ॥३॥ अयमात्मा ब्रह्म ॥४॥

इन चारों वाक्यों को वे वेद-वाक्य या महावाक्य बताते हैं; परन्तु इन चारों मे से एक भी वेद वाक्य नहीं है। महावाक्य तो ये हैं ही नही—किसी सत्य-शास्त्र ने इनको महावाक्य नहीं लिखा और इनके कलेवर से इनको महावाक्य कह कौन सकता है ? इनमें से पहला वाक्य ऐतरेय आरण्यक का है, दूसरा वाक्य बृहदारण्यक का है, तीसरा छान्दोग्य उपनिषद् का है और चौथा माण्डूक्योपनिषद् का है।

प्रज्ञान ब्रह्म का अर्थ है—ब्रह्म ज्ञानस्वरूप है या प्रकृष्ट ज्ञानवान् है। यह अर्थ सुसंगत है, इसमे कोई विप्रतिपत्ति नहीं। परन्तु ब्रह्म के ज्ञानस्वरूप होने से यह अर्थ कहाँ से निकल आया कि ब्रह्म के सिवाय और किसी में ज्ञान का लेश भी नही है। जीव ज्ञानवान् है, परन्तु वह अल्पज्ञ है। ब्रह्म सर्वज्ञ है परन्तु सर्वज्ञ ब्रह्म की सत्ता स्वीकार करने से अल्पज्ञ जीव की सत्ता का निषेध नहीं हो सकता।

'अहं ब्रह्मास्मि' का अर्थ

अहं ब्रह्मास्मि का अर्थ यह नहीं है कि मै ब्रह्म हूँ—जैसा कि सामान्यतया समझा जाता है। परन्तु इसका अर्थ है; 'मै ब्रह्मस्थ हूँ।' पूछा जाएगा कि 'ब्रह्मास्मि' का अर्थ 'ब्रह्मस्थ हूँ'—यह कैसे कर दिया गया। इसके लिए साहित्य-शास्त्र के गम्भीर अध्ययन की आवश्यकता है। साहित्य का शास्त्रीय विवेचन करने वाले मम्मट के 'काव्य प्रकाश' नामक ग्रन्थ से इस प्रकार के उदाहरण किए गए है, जैसे 'मञ्चाः क्रोशन्ति'—अर्थात् मञ्च या मचान पुकारते हैं। परन्तु मचान तो जड है—वे कैसे बोल सकते है। तब यहाँ मञ्च के पुकारने के मुख्य अर्थ का बाध होकर तात्स्थ्योपाधि से यह अर्थ निकलता है कि 'मञ्चस्था क्रोशन्ति' अर्थात् मचान पर बैठे हुए लोग पुकारते हैं। कान में आने वाली आवाज की दूरी बताने के लिए यहाँ 'मचान पर बैठे मनुष्य' न कह कर सक्षेप के लिए केवल 'मचान' ही कह दिया। ऐसे ही एक उदाहरण

है · 'गगायां घोषः'——अर्थात् गंगा मे गाँव है' (घोष=गाँव) नदी के अन्दर कोई गाँव कैसे हो सकता है ? नदी मे होगा तो बह न जाएगा । इस-लिए यहाँ भी मुख्यार्थ का बाध होकर तात्स्थ्य वा तत्सहचरितोपाधि से यह अर्थ होता है कि गगा-तट पर गाँव है ।' नदी के सहचारी होने से उस गाँव की शीतत्व पावनत्वादि विशेषताओ को बताने के लिए 'गंगा-तट पर' न कह कर सीधा 'गगाया' =गगा में' कह दिया गया । केवल काव्य प्रकाश के उदाहरणों के बल पर ही ऐसा अर्थ नहीं किया गया है, किन्तु साहित्य में पदे-पदे ऐसे उदाहरण मिलते हैं । और तो और, आम बोलचाल मे भी दिन-रात हम इस प्रकार के प्रयोग करते हैं । हम पूछते हैं, "यह सड़क किधर जाती है ?" भोले मुसाफिर सडक कही नही जाती, यह तो वही की वहीं रहती है—सड़क जड़ है, परन्तु सडकस्थ लोग आते-जाते है । है न वही तात्स्थ्योपाधि । या हम कहते हैं; 'दीवार के भी कान होते हैं ।' परन्तु क्या दीवार के कभी कान हो सकते हैं ? यहाँ तत्सहचरितोपाधि से अर्थ यह होगा कि 'दीवार का सहचारी व्यक्ति तो कही कोई कान लगाकर हमारी बात नही सुन रहा । यदि साहित्य में इस प्रकार अर्थ न किया जाये तो अनर्थ हो जाये ।

पूछा जा सकता है कि ब्रह्मस्थ तो सभी पदार्थ हैं, फिर जीव को ही ब्रह्मस्थ क्यों कहते हो ? उसका उत्तर यह है कि ब्रह्म से जैसा साधर्म्य और निकटता जीव की है वैसी अन्य किसी पदार्थ की नही और मोक्ष के समय तो जीव ब्रह्म का सहचारी होता ही हे, इसलिए जीव को ही यह कहना शोभा देता हे कि 'मै ब्रह्मस्थ हूँ ।'

तीसरा वाक्य है 'तत्त्वमसि' । इस वाक्य का अर्थ दो तरह से किया जाता है, एक तो यह कि ब्रह्म (तत्), तू जीव (त्वम्) है (असि) । या हे जीव ! तू (त्वम्) वह ब्रह्म (तत्) है (असि) । परन्तु ये दोनों ही अर्थ असंगत हैं, क्योकि तत् शब्द से ब्रह्म का अर्थ लेना ठीक नहीं । जिस छान्दोग्य उपनिषद् का यह वचन है उसमे इससे पूर्व ब्रह्म शब्द का पाठ नहीं है, इसलिए इस शब्द की अनुवृत्ति नहीं आ सकती । इस अनुवृत्ति के झगड़े की आवश्यकता भी नहीं है, क्योकि स्वयं छान्दोग्य उपनिषद् मे 'तत्त्वमसि' वाक्य की व्याख्या कर दी है । उपनिषद् ने तत् का अर्थ किया है; 'तदात्मक.'—अर्थात्

'उस परमात्मा वाला' जब इससे भी सन्तोष नही हुआ तो इसके लिए दूसरा शब्द दिया : 'तदन्तर्यामी'—वह अन्तर्यामी है जिसमे इस प्रकार 'तत्त्वमसि' का अर्थ हुआ 'तदन्तर्यामी त्वमसि'—अर्थात् तू उस परमात्मा से युक्त है। यही अर्थ उपनिषद् का अविरोधी है। इस अर्थ से जीव और ब्रह्म की एकता नही बनती।

चतुर्थ वाक्य है : 'अयमात्मा ब्रह्म'। इसका स्पष्ट अर्थ यही है कि 'यह परमात्मा ब्रह्म है।' परमात्मा को तो ब्रह्म हम भी कहते ही हैं, इसलिए इस अर्थ में जीव और ब्रह्म की एकता नहीं बन सकती। परन्तु यदि आत्मा का अर्थ परमात्मा न लेकर केवल जीवात्मा ही लिया जाये तब उसे यों समझना होगा कि मोक्षावस्था मे पहुँचने पर कोई योगी कहता है : 'अयमात्मा ब्रह्म'—अर्थात् मेरा जीवात्मा ब्रह्मस्थ या ब्रह्म का सहचारी है या ब्रह्म के अनुभव में इतना निमग्न है कि हम अविरोधी या एक अवकाशस्थ हो गये। तीसरा अर्थ यह भी हो सकता है कि समाधिदशा मे परमात्मा का साक्षात्कार होने पर योगी कहता है कि यह जो मुझ मे व्यापक है वही ब्रह्म सर्वत्र व्यापक है। इन तीनो अर्थों में से किसी में भी वेदान्त-प्रतिपादित जीव-ब्रह्म की एकता सिद्ध नहीं होती।

जीव और ब्रह्म एक नहीं

जब साहित्य की चर्चा आ गई तो प्रतिपक्षी ने कहा—लो साहित्य से ही जीव और ब्रह्म की एकता स्थापित करते हैं। साहित्य शास्त्र में तीन शक्तियाँ मानी जाती हैं; अभिधा, लक्षणा और व्यजना। सो लक्षणा का एक प्रकार है जिसे भाग त्याग लक्षणा कहते हैं। इसमें कुछ अश छोड़कर और कुछ अंश ग्रहण करके पदार्थ का वर्णन किया जाता है। जैसे 'सोऽय देवदत्तो य उष्ण-काले काश्यां दृष्टः स इदानी प्रावृट्‌समये मथुराया दृश्यते'—अर्थात् यह वही देवदत्त है जिसे गर्मियो में काशी में देखा था और अब वह बरसात में मथुरा मे दिखाई दे रहा है। वैसे जो चीज काशी मे देखी थी वह मथुरा में कैसे हो सकती है, और गर्मियो में जो चीज थी वही बरसात में कैसे हो सकती है ? अवस्थान्तर और स्थानान्तर होने से वस्त्वन्तर भी होना चाहिए। परन्तु यहाँ वाक्य के काशी और उष्णकाल वाले भाग का त्याग करके और देवदत्त

के शरीर मात्र को लक्ष्य करके, भाग त्याग लक्षणा के अनुसार हम देवदत्त को मथुरा में देखते ही पहचान लेते हैं कि यह तो वही देवदत्त है जिसे गर्मियों में काशी मे देखा था। इसी प्रकार देश, काल, माया, उपाधि आदि जैसे ब्रह्म के साथ लगे हुए हैं वैसे ही जीव के साथ भी देश, काल, माया, उपाधि (अविद्या अल्पज्ञता) लगे हुए हैं। इन सब दृष्टियों से तो जीव और ब्रह्म मे अभेद है ही क्योकि ये सब बातें दोनो मे एक-सी हैं (Common) हे। परन्तु ईश्वर सर्वज्ञ है और जीव अल्पज्ञ है—दोनों के इन दोनो भेदपरक वाच्यार्थों को छोड़कर, भागत्याग लक्षणा के अनुसार हम केवल चेतन मात्र को लक्ष्य करते हैं। क्या इस तरह दोनों की एकता नहीं बन सकती? इसके अतिरिक्त जैसे ब्रह्म सत् चित् आनन्दस्वरूप है वैसे ही जीव के भी अस्ति, भाति और प्रिय रूप हैं। इससे भी दोनों की एकता अर्थात् अद्वैत-सिद्धि क्यो नहीं हो सकती?

ब्रह्मसूत्रो के शारीरक (शारीरिक नहीं) भाष्य के अनुसार वेदान्ती लोग ६ पदार्थों को अनादि मानते हैं; एक जीव, दूसरा ईश्वर, तीसरा ब्रह्म, चौथा जीव और ईश्वर का भेद, पांचवां अविद्या और छठा अविद्या और चेतन का योग। परन्तु इनमें से केवल ब्रह्म ही अनादि और अनन्त है, शेष पांच अनादि किन्तु सान्त हैं, जैसे कि नैयायिको का प्रागभाव होता है। इन पाँचों का आदि किसी को विदित नहीं, इसलिए ये अनादि हैं, किन्तु अज्ञान समाप्त होते ही इन पाँचों का अन्त हो जाता है इसलिए सान्त हैं, परन्तु ब्रह्म का न आदि है, न अन्त, इसलिए वह अनादि और अनन्त दोनो है। संकोच से यह कहा जा सकता है कि वेदान्तियो का यह सब वाग्जाल मात्र है—वास्तव में तो उनके मत में ब्रह्म और अविद्या दो ही मुख्य हैं और इन दो में ही उनके छहों पदार्थों का अन्तर्भाव हो जाता है। अब प्रश्न यही है कि नित्य शुद्ध-बुद्ध-मुक्त-स्वभाव और सर्वव्यापक ब्रह्म से अविद्या का सम्पर्क हुआ ही कैसे? यदि स्वभाव से ही अविद्या का सम्पर्क मानें तो ब्रह्म शुद्ध नहीं रहा, यदि स्वभाव के बिना सम्पर्क मानें तो उसकी आवश्यकता ही क्यो पड़ी? जब तक अविद्या और ब्रह्म का योग नही, तब तक कारणोपाधि ईश्वर और कार्योपाधि जीव भी कैसे बनेंगे? फिर जिन्होंने ब्रह्म और अविद्या दोनो को अनादि मान लिया उनका भी अद्वैत

कैसे रहा—वह द्वैत न हो गया। ब्रह्म और अविद्या इन दोनों को साथ-साथ मानना तो बहुत कुछ वैसी ही कल्पना है जैसे ईसाई या मुसलमान खुदा और शैतान को साथ-साथ मानते हैं। वहाँ जैसे शैतान खुदा को बरगलाता है वैसे ही यहाँ अविद्या ब्रह्म को विकृत करती है।

जहाँ तक भाग-त्याग-लक्षणा के अनुसार ब्रह्म और जीव के समानता द्योतक लक्षणो को लेकर और भेदपरक लक्षणो को छोड़कर दोनो की एकता सिद्ध करने का प्रयत्न है उसके बारे मे यही कहा जा सकता है कि यदि इस तरह एकता स्थापित करने लगेंगे तो ससार मे अव्यवस्था फैल जाएगी। यह तो वैसा ही हेत्वाभास है जैसे 'जानवर उसको कहते है जिसमें जान हो, और आदमी मे क्योंकि जान है इसलिए आदमी भी जानवर है।' क्या जान होने की समानता मात्र से आदमी और जानवर का एकत्व प्रतिपादित किया जा सकता है? जैसे चीटी मुख से खाती, आँख से देखती और पांवों से चलती है, वैसे ही सब आदमी भी करता है—इसलिए क्या चीटी और आदमी को एक माना जाएगा? देखना यह है कि दोनों पदार्थों में साधर्म्य कितना है और वैधर्म्य कितना। इसी साधर्म्य के आधार पर प्राणियों का जलचर, स्थलचर और स्तन्यपायी आदि के रूप में वर्गीकरण होता है। यह ठीक है कि ब्रह्म और जीव दोनो मे चेतनता या साधर्म्य है, परन्तु उनमे वैधर्म्य कितना है, इस पर भी कभी विचार किया है? ब्रह्म सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, अपरिच्छिन्न, अनन्त ज्ञान-बल-क्रिया-सम्पन्न आनन्दस्वरूप है, परन्तु जीव अल्पज्ञ, अल्पशक्तिसम्पन्न, परिच्छिन्न और इच्छा-द्वेष-प्रयत्न-सुख-दुःखादि से युक्त है, इसलिए जीव और ब्रह्म एक नही हो सकते।

अद्वैतवाद का मूल—बौद्ध दर्शन

इसी स्थान पर यदि दर्शनशास्त्र के इतिहास की दृष्टि से शंकराचार्य के अद्वैतवाद के सिद्धान्त पर विचार कर लिया जाए तो शायद अनुचित न हो। शंकराचार्य अद्वैतवाद के प्रवर्तक माने जाते है। अद्वैतवाद के सिद्धान्त पर जो लोग इस्लाम और सूफी सम्प्रदाय की छाप देखते हैं, उनका भ्रम निवारण करने के लिए भी अद्वैतवाद का ऐतिहासिक विवेचन अभीष्ट है। परिवर्तनशील जगत् का आदिकारण और यथार्थ तत्त्व ब्रह्म है, यह तो वेद और उपनिषदो ने

प्रतिपादित कर दिया था, परन्तु यह जगत् सर्वथा असत्य है, यह स्थापना शंकर की ही है। परन्तु शंकर के इस मायावाद वा अद्वैतवाद का जनक है बौद्धदार्शनिक नागार्जुन का शून्यवाद। भारत में चिरकाल से यह जनश्रुति चली आ रही है कि शकर प्रच्छन्न बौद्ध है और उसका अद्वैतवाद प्रकारान्तर से बौद्ध दर्शन का ही उद्रेक है। विज्ञानभिक्षु ने सांख्य प्रवचन भाष्य की भूमिका में पद्म पुराण का यह श्लोक उद्धृत किया है 'मायावादमसच्छास्त्र प्रच्छन्न बौद्धमेव तु।' मायावाद असत् शास्त्र है और वह छिपा हुआ बौद्ध दर्शन ही है।

वेदान्ती अद्वैत तत्त्व की स्थापना करने के लिये जिस प्रकार सत्ता का निरूपण पारमार्थिक और व्यावहारिक दो स्तरों पर करते हैं, 'सत्ता' का इस प्रकार दो स्तरों पर भेद सबसे पहले नागार्जुन ने ही किया था। नागार्जुन जिसे 'शून्य' (Absolute) कहता है, उसी को शंकराचार्य 'ब्रह्म' कहते हैं। वस्तु तत्त्व का सर्वथा लोप करके सम्पूर्ण विश्व को 'नि स्वभाव' और 'शून्य रूप' से प्रस्तुत करने वाला यह शून्यवाद सर्वथा निषेधवाद (Nihilism) नहीं है, किन्तु शून्यवाद का कहना है कि समस्त दृश्यमान जगत् परस्पर सापेक्ष है, इसलिये वह किसी निरपेक्ष (Absolute) तत्त्व की ओर इंगित करता है। यह निरपेक्ष तत्त्व ही 'शून्य' है। यह शून्य (Nothing) नहीं है, (Something) है। परन्तु वह (Something) केवल शून्य है। इस शून्य वाद को एक तरह से 'अद्रव्य का सिद्धान्त' (No-Substance Theory) कह सकते हैं—यही बौद्धों का अनात्मवाद है।

शून्य को समझने के लिये एक दृष्टान्त दिया जा सकता है। ज्यामिति पढाने वाला शिक्षक कहता है कि बिन्दु (Point) उसको कहते हैं जिसमें न लम्बाई हो, न चौड़ाई। या सरल रेखा (Straight line) उसको कहते है जिसमे केवल लम्बाई ही लम्बाई हो, चौड़ाई न हो। परन्तु क्या कभी ऐसा बिन्दु कागज पर बनाया जा सकता है जिसकी न लम्बाई हो, न चौड़ाई। या क्या कभी ऐसी सरल रेखा कभी खींची जा सकती है जिसकी केवल लम्बाई हो और चौडाई न हो। जब भी कोई बिन्दु बनेगा—उसकी कुछ न कुछ लम्बाई भी होगी, कुछ न कुछ चौड़ाई भी। ऐसे ही, जब भी सरल रेखा बनेगी, उस की कुछ न कुछ चौड़ाई अवश्य होगी। परिभाषा के अनुसार बिन्दु या सरल

रेखा की सत्ता असम्भव है। परन्तु इसी कारण न विन्दु की सत्ता से इन्कार किया जा सकता है, न सरल रेखा की सत्ता से।

इसी तरह जितने भी द्रव्य हैं वे देश (Space) की दृष्टि से फैले हुए (Extended) हैं और काल (Time) की दृष्टि से स्थिरता (Duration) वाले हैं। संसार के किसी भी पदार्थ की कल्पना हम नहीं कर सकते जिसे देश और काल ने परिच्छिन्न न कर रखा हो। यही आइन्स्टीन का सापेक्षवाद है। प्रत्येक वस्तु देश और काल की अपेक्षा से है, क्योंकि बिना देश और काल के हम किसी पदार्थ की कल्पना कर ही नहीं सकते। जैसे देश और काल ही असली उपाधि या माया हो, जो किसी भी पदार्थ के पैदा होते ही उसे घेर लेती हो। परन्तु यथार्थ तत्त्व वह है जो काल और देश के बंधन से परे है, इनसे निरपेक्ष होने के कारण ही उसे (Absolute) कहना होगा—वही शून्य है। इस प्रकार शून्य की व्याख्या होगी—ऐसा तत्त्व जो समय की दृष्टि से (Temporally) लम्बाई में (Vertically) और देश की दृष्टि से चौड़ाई में (Horizontally) मे सब ओर से बटा हुआ हो। अर्थात् वह निरवयव है, उसमें अनेक अवयवो में रहने वाला कोई अवयवी द्रव्य नहीं। वह शून्य (Positive) चीज है, (Negative) नहीं।

जो व्याख्या शून्य की है, वही व्याख्या ब्रह्म की है। जिस प्रकार उपर्युक्त विवेचन शून्य पर घटित होता है, ठीक उसी प्रकार वह विवेचन ब्रह्म के साथ भी ज्यों का त्यों अक्षरश घटित होता है। इस तरह ऐसा लगता है कि वैदिक दर्शनों का खण्डन करने के लिये और अपने अनात्मवाद की स्थापना के लिए बौद्धों ने जो सूक्ष्म और गम्भीर दार्शनिक मन्थन किया वही सारा 'आधार सामग्री' (Raw Material) के रूप में शंकर को मिल गया और शंकर ने बौद्धों का खंडन करने के लिये उस सब सामग्री को ज्यों का त्यों अपना लिया। इतना ही नहीं, प्रत्युत शंकर ने उस समस्त दार्शनिक सामग्री को अपना रंग (Finish) देकर उन्हीं के हथियारो से उन्हीं के तर्कजाल को काट दिया। जिन तर्कों से वे अनात्मवाद की स्थापना करते थे, उन्ही तर्कों से शकर ने आत्मवाद की स्थापना की। बौद्ध जिस निरपेक्ष तत्त्व को 'शून्य' कहते थे, उसी निरपेक्ष तत्त्व को शकर ने ब्रह्म कहा। परन्तु बौद्धों की शून्यवाद की फिलासिफी में

अपनी अद्वैतवाद की कलम लगाने से शंकर को माया, उपाधि और अविद्या का भी अनादित्व स्वीकार करना पड़ा। इसके बिना उसके तथाकथित ब्रह्म का मण्डन ही न बन पाता।

यह थोड़ा-सा विवेचन हमने इसीलिये किया है जिससे कतिपय आधुनिक राष्ट्रीय नेताओ और उच्च पदस्थ विद्वानों को यह कहने का अवसर न रहे कि शंकर के अद्वैत पर इस्लाम के एकेश्वरवाद की छाया है। शकर ने इस्लाम से कुछ नहीं लिया, जो कुछ लिया वह बौद्धों से लिया और यह बात भारतीय दार्शनिक परम्परा के इतिहास मे समीचीनतया ठीक बैठती है।

ईश्वर की वैज्ञानिक परिभाषा

यों ब्रह्मसूत्र में 'जन्माद्यस्य यतः' और योगदर्शन में 'क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्ट. पुरुषविशेष ईश्वर' कह कर ईश्वर की अपने ढंग से परिभाषा की गई है। परन्तु दार्शनिक और वैज्ञानिक दृष्टि से यदि ईश्वर की कोई व्याख्या करनी हो तो हम वेद का निम्न मन्त्र उपस्थित करेंगे—

यो भूतञ्च भव्यञ्च सर्वं यश्चाधितिष्ठति।
स्वर्यस्य च केवल तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः॥

—अर्थात् जो भूत और भविष्यात्मक काल (Time) का तथा सर्वत्र आकाश रूप से व्याप्त देश (Space) का अधिष्ठाता है और जो केवल आनन्दस्वरूप है उस ज्येष्ठ ब्रह्म को नमस्कार है। (प्रकरणानुसार वेद में ब्रह्म शब्द प्रकृति और जीवात्मा का भी वाचक बनकर आया है, इसीलिये यहाँ ज्येष्ठ ब्रह्म कहा है क्योंकि ज्येष्ठ ब्रह्म केवल परमात्मा का ही वाचक है।

लौकिक ग्रन्थों में ईश्वर की एक परिभाषा महामुनि भर्तृहरि के नीतिशतक में मिलती है। यह देखकर आश्चर्य होता है कि भर्तृहरि-कृत व्याख्या में ईश्वर सम्बन्धी दार्शनिक और वैज्ञानिक उलझनें सर्वथा समाप्त हो जाती हैं। ईश्वर की वैज्ञानिक व्याख्या करने वाला वह श्लोक यह है—

दिक्कालाद्यनवच्छिन्नानन्तचिन्मात्रमूर्तये।
स्वानुभूत्येकमानाय नम. शान्ताय तेजसे॥

—दिशाओं और काल के बंधन से रहित, अनन्त, चितिमात्र ही जिसकी मूर्ति है, और अपनी अनुभूति ही जिसमें एकमात्र प्रमाण है, उस शान्त तेज को

नमस्कार है। दिशा और काल के बंधन की व्याख्या हम शून्य वाले प्रकरण में कर चुके हैं। अनन्त का अर्थ है (Infinite) जो गणित-शास्त्र का (Infinite) है—अर्थात् जिसमे कभी परस्पर न मिलने वाली समानान्तर रेखाएँ भी मिल जाती हैं—वैसे ही परमात्मा में भी सब विरोधो का परिहार हो जाता है इसीलिये वह अनन्त हैं। 'स्वानुभूत्येकमानाय' की भी यथा-स्थान चर्चा हो चुकी है। शान्त और तेज शब्द भी परस्पर विरोधी हैं—जो शान्त होगा वह तेज नही होगा और जो तेज होगा वह शान्त नहीं होगा। परन्तु परमात्मा का तेज ऐसा ही है जो शान्त भी है और तेज भी—जैसे दीपक की लौ होती है।

वेद सब के लिए

इसके आगे ऋषि ने वेद-सम्बन्धी चर्चा की हैं। इस सम्बन्ध में निम्न बातों का प्रतिपादन किया है। वेद ईश्वरकृत हैं, सृष्टि के आदि मे बनाए गए हैं, ईश्वर नित्य है इसलिए उसकी रचना होने के कारण वेद भी नित्य हैं—अर्थात् प्रत्येक सर्गारम्भ में ये ही वेद आते है। ऋषि न केवल वेद के शब्दो को, किन्तु उनके अर्थो को भी ईश्वर प्रदत्त मानते हैं—अर्थात् पुस्तक रूप मे तो वेद अनित्य हैं, किन्तु ज्ञान रूप मे जहाँ तक शब्दो और उनके अर्थों का सम्बन्ध है, वेद नित्य हैं। इसी प्रसग में उन्होने विकासवाद का भी खण्डन किया है। वेद ज्ञान का प्रकाश अग्नि, वायु, आदित्य और अगिरा इन चारो ऋषियों पर हुआ। जो ब्राह्मण ग्रन्थ हैं उनसे वेदो की व्याख्या है, परन्तु वे ग्रन्थ स्वयं वेद नहीं हैं। जो वेदों की शाखाएँ हैं, वे भी शाखा मात्र है, वेद कोटि में नहीं आती—अर्थात् चारों वेदो के ब्राह्मण, ६ अंग, ६ उपाङ्ग, चार उपवेद और वेदो की ११२७ शाखाएँ ये सब महर्षियों के बनाए ग्रन्थ हैं। ये सब परतः प्रमाण है और स्वत. प्रमाण केवल चार वेद ही हैं। वेदो की भाषा संसार की सब भाषाओं की मूल है, वेद भाषा किसी देश-विशेष की भाषा नहीं है। जिस भाषा मे वेद हैं। यदि वह किसी एक देश की भाषा होती तो उससे परमात्मा का पक्षपात प्रकट होता। जैसे ईश्वर द्वारा रचित सृष्टि के अन्य पदार्थों पर किसी का एकाधिकार नही हो सकता, वैसे ही वेदो पर भी ब्राह्मणो का

एकाधिकार नही है—वह ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र सभी वर्णों और ससार के सब देशवासियों के लिए हैं।

विकासवाद के अनुयायी वैज्ञानिक यह कहते हैं कि वेदों को ईश्वर-रचित मानने की कोई आवश्यकता नहीं, Trial and Error के सिद्धान्त के अनुसार, जैसे बच्चा गिरते-पड़ते अन्त मे चलना सीख ही लेता है, वैसे ही मानव जाति भी विकास करते-करते वेद ज्ञान तक पहुँच जाएगी।

मानवीय ज्ञान नैमित्तिक

इसके उत्तर मे निवेदन है कि मानव मे तथा सृष्टि के अन्य प्राणियो में एक बहुत बड़ा अन्तर है। अन्य प्राणियो के गुण कर्म स्वभाव जैसे भी होते हैं, जन्म काल से ही होते है। इसीलिए वे जो काम करते हैं, वह पशु प्रवृत्ति या Animal Instinct कहलाती है। जो मांसाहारी प्राणी हैं उनके बच्चों को मांस खाने या जो वनस्पतिभोजी हैं उनके बच्चों को वनस्पति खाना सिखाना नहीं पडता। अपने इस स्वभाव को वे बदल भी नहीं सकते। शेर कभी घास नहीं खाएगा और गाय कभी मांस नहीं खाएगी। इसी तरह भैंस का बच्चा या बत्तख अपने जन्मकाल से ही बिना सिखाए पानी में तैरना जानते है, परन्तु आज तक यह कभी नहीं देखा कि किसी बड़े से बड़े तैराक का बालक भी बिना सिखाए पानी मे तैरना जानता हो। इससे यह बात स्पष्ट होती है कि मनुष्य का जितना भी ज्ञान है, वह नैमित्तिक है। मनुष्य अपने माता-पिता या साथियों का अनुकरण करके या किसी गुरु के सिखाने से ही सीखता है। यदि मनुष्य-समाज से अलग करके किसी बालक को जानवरों से भरे स्थान मे या एकान्त में रख दिया जाए तो उसमे न वाणी का विकास होगा, न अन्य मानवीय ज्ञान का। इस प्रकार के परीक्षण अनेक बार किए जा चुके हैं। जो जंगली जातियाँ हैं, वे हजारों सालों से असभ्यता का शिकार हैं। यदि स्वयं ज्ञान का विकास होता तो इस वैज्ञानिक युग मे जंगली जातियाँ कहीं दृष्टिगोचर नहीं होतीं। परन्तु उचित मार्ग-निर्देशन मिलने पर उनके जीवन में भी परिवर्तन परिलक्षित होता है। जैसे वर्तमान समय मे हम अपने गुरुओ से पढ़कर विद्वान होते हैं। वैसे ही सृष्टि के आरम्भ मे अग्नि आदि ऋषियो को परमात्मा ने वेदो का ज्ञान

दिया और उसके बाद से फिर गुरु-शिष्य परम्परा चल पडी। वेद की आवश्यकता ऋषि ने इन शब्दो में प्रकट की है, जैसे माता-पिता अपने सन्तानों पर दया दृष्टि कर उनकी उन्नति चाहते हैं, वैसे ही परमात्मा ने सब मनुष्यो पर कृपा करके वेदों को प्रकाशित किया है, जिससे मनुष्य अविद्यान्धकार के भ्रम-जाल से छूट कर विद्या-विज्ञान रूप को प्राप्त होकर आनन्द में रहे और विद्या तथा सुखो की वृद्धि करते जाएँ।"

ईश्वरीय ज्ञान का अर्थ

वेद 'ईश्वरीय ज्ञान' है, यह कहते हुए एक भ्रम भी हो सकता है जिसका निराकरण कर देना आवश्यक है। 'ईश्वरीय ज्ञान' शब्द के दो अर्थ हो सकते हैं —एक तो ईश्वर सम्बन्धी ज्ञान, और दूसरे ईश्वर द्वारा प्रदत्त ज्ञान। यदि वेद में ईश्वर सम्बन्धी ज्ञान ही माना जाए, जैसा कि अनेक लोग उन्हे 'आध्यात्मिक ग्रन्थ' कह कर प्रकट करना चाहते हैं, तो वह वेद के स्तर को गिरा देना होगा। क्योंकि वेद में केवल ईश्वर-सम्बन्धी ज्ञान ही नहीं है, उसमे जीवात्मा और प्रकृति सम्बन्धी और मानव जीवन सम्बन्धी ज्ञान का भी अक्षय भण्डार है। इसलिए 'ईश्वरीय ज्ञान' का अर्थ ईश्वर द्वारा प्रदत्त ज्ञान ही समझना चाहिए— तभी आर्य समाज के तीसरे नियम में वर्णित ऋषि की यह घोषणा अर्थवती सिद्ध होगी "वेद सब सत्य विद्याओ का पुस्तक है।"

●

हिन्दू जाति की ठण्डी रगो में उष्ण रक्त का सचार करने वाला यह ग्रन्थ अमर रहे, यही मेरी कामना है। 'सत्यार्थप्रकाश' की विद्यमानता मे कोई विधर्मी अपने मजहब की शेखी नही मार सकता।

—श्री विनायक दामोदर सावरकर

सृष्टि उत्पत्ति क्यों और कैसे ?

●

मानव का प्रादुर्भाव कहाँ ?

●

सत्यार्थप्रकाश के अष्टम
समुल्लास के आधार पर

●

आचार्य श्री पं० उदयवीर शास्त्री

●
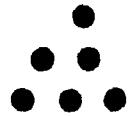
आधुनिक दार्शनिक जगत् की उत्पत्ति—प्रकृति और ब्रह्म की स्थिति—दर्शनो की एकता प्राणी का प्रादुर्भाव कैसे और मनुष्योत्पत्ति कहाँ, विषयो के सम्बन्ध मे अधकार में भटक रहे है।

ऋषि ने सत्यार्थप्रकाश के अष्टम समुल्लास मे इस विषय पर "सत्य" मार्ग दर्शन करा संसार के मस्तिष्कों का मार्ग-दर्शन किया है।

प्रसिद्ध दार्शनिक, और इतिहास-वेत्ता विद्वान् लेखक ने ऋषि मन्तव्यों को सरल प्रकार से उपस्थित कर सभी को विचार की दिशा प्रदान की है।

काश कि भटकता विज्ञान—उलझता दर्शन ऋषि के प्रकाश को देख पाता।

—*सम्पादक*

आठ
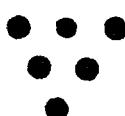
सृष्टि का सर्वोत्कृष्ट प्राणी मानव है। मानव को अपनी इस स्थिति के विषय मे कदाचित् अभिमान हो सकता है, पर अधिकाधिक उन्नति कर लेने पर भी यह सृष्टि रचना मे सर्वथा असमर्थ रहता है। इसका कारण है, मानव जब अपने रूप मे प्रकट होता है, उससे बहुत पूर्व सृष्टि की रचना हो चुकी होती है, इसलिये यह प्रश्न ही नहीं उठता कि मानव सृष्टि रचना कर सकता है। तब यह समस्या सामने आती है, कि इस दुनिया को किसने बनाया होगा ?

भारतीय प्राचीन ऋषियो ने इस समस्या का समाधान किया है, जगत् को बनाने वाली शक्ति का नाम 'परमात्मा' है, इसको ईश्वर, परमेश्वर, ब्रह्म आदि अनेक नामों से पुकारा जाता है। यह ठीक है, कि परमात्मा इस पृथिवी चाँद सूरज आदि समस्त लोक-लोकान्तर रूप जगत् को बनाने वाला है, परन्तु जिस मूलतत्व से इस जगत् को बनाया जाता है, वह अलग है। उसका नाम प्रकृति है। प्रकृति त्रिगुणात्मक कही जाती है। वे तीन गुण हैं, सत्व, रजस्, तमस्। इन तीन प्रकार के मूल तत्वो के लिये 'गुण' पद का प्रयोग इसीलिये किया जाता है कि ये तत्व आपस मे गुणित होकर, एक-दूसरे में मिथुनीभूत होकर, परस्पर गुथकर ही जगद्रूप मे परिणत होते हैं। जगत् की रचना पुण्यापुण्य, धर्माधर्म रूप शुभ-अशुभ कर्मों के करने और उनके फलों को भोगने के लिये की जाती है। इन कर्मों को करने और भोगने वाला एक और चेतन तत्व है,

जिसको जीवात्मा कहा जाता है। ये तीनों पदार्थ अनादि हैं—ईश्वर, जीवात्मा और प्रकृति।

जगत उत्पन्न होता है या नहीं ?

प्रश्न—यह जगत् कभी उत्पन्न नही होता, अनादि काल से ऐसा ही चला आता है और अनन्त काल तक ऐसा ही चला जायगा, ऐसा मान लेने पर इसके बनने-बनाने का प्रश्न ही नही उठता, तब इसको बनाने के लिए ईश्वर की कल्पना करना व्यर्थ है। यह चाहे प्रकृति का रूप हो या कोई रूप हो, अनादि होने से ईश्वर की कल्पना अनावश्यक है।

उत्तर—जगत् को जिस रूप में देखा जाता है, उससे इसका विकारी होना स्पष्ट होता है। यदि जगत् अनादि-अनन्त एक रूप हो, तो यह नित्य माना जाना चाहिये, नित्य पदार्थ अपने रूप मे कभी परिणामी या विकारी नहीं होता परन्तु जागतिक पदार्थों में प्रतिदिन परिणाम होते देखे जाते हैं। इससे स्पष्ट होता है, कि पृथिव्यादि लोक-लोकान्तरो की दृश्यमान स्थिति अपरिणामिनी अथवा अविकारिणी नहीं है। इसमें परिणाम का निश्चय होने पर यह मानना पड़ेगा कि यह बना हुआ पदार्थ है, तब इसके बनाने वाला भी मानना होगा।

प्रश्न—पृथिव्यादि को विकारी मानने पर भी बनाने वाले की आवश्यकता न होगी, जिन मूलतत्त्वो से इनका परिणाम होना है, वे स्वत. इस रूप मे परिणत होते रहते है। ससार मे अनेक पदार्थ स्वतः होते देखे जाते है। अनेक स्वचालित यन्त्रो का आज निर्माण हो चुका है।

उत्तर—पृथिव्यादि समस्त जगत् जड़ पदार्थ है, चेतना-हीन। इसका मूल उपादान तत्व भी जड़ है। किसी भी जड़ पदार्थ मे चेतन की प्रेरणा के बिना कोई क्रिया होना संभव नहीं। चेतना के सहयोग के बिना किसी जड़ पदार्थ में स्वत प्रवृत्ति होती नहीं देखी जाती। इसके लिये न कोई युक्ति है न दृष्टान्त स्वचालित यन्त्रो के विषय मे जो कहा गया, उन यन्त्रो का निर्माण तो प्रत्यक्ष देखा जाता है। उनको बनाने वाला शिल्पी उसमें ऐसी व्यवस्था रखता

है, जिसे स्वचालित कहा जाता है। यन्त्र अपने आप नहीं बन गया है, उसको बनाने वाला एक चेतन शिल्पी है, और उस यन्त्र की निगरानी व साज-संवार बराबर करनी पड़ती है, यह सब चेतन-सहयोग-सापेक्ष है। इसलिये यह समझना, कि पृथिव्यादि जगत् अपने मूल उपादान तत्वो से चेतन निरपेक्ष रहता हुआ स्वतः परिणत हो जाता है, विचार सही नही है। फलतः जगत् के बनाने वाले ईश्वर को मानना होगा।

प्रकृति की आवश्यकता ?

प्रश्न—आपने यह स्पष्ट किया, कि ईश्वर को मानना आवश्यक है, यदि ऐसा है, तो केवल ईश्वर को मानने से कार्य चल सकेगा, ईश्वर को सर्वज्ञ, सर्वव्यापक, सर्वशक्तिमान् माना जाता है, वह अपनी शक्ति से जगत् को बना देगा, उसके अन्य कारण प्रकृति की क्या आवश्यकता है ? कतिपय आचार्यों ने इस विचार को मान्यता दी है।

उत्तर—ईश्वर जगत् को बनाने वाला अवश्य है, पर वह स्वयं जगत् के रूप मे परिणत नही होता। ईश्वर चेतनतत्व है, जगत् जड पदार्थ है। चेतना का परिणाम जड़ अथवा जड़ का परिणाम चेतन होना संभव नहीं। चेतन स्वरूप से सर्वथा अपरिणामी तत्व है। यदि चेतन ईश्वर को ही जड़ जगत् के रूप में परिणत हुआ माना जाय तो यह उस अनात्मवादी की कोटि मे आ जाता है, जो चेतन की उत्पत्ति जड़ से मानता है। कारण यह है, कि यदि चेतन जड़ बन सकता है, तो जड को भी चेतन बनने से कौन रोक सकता है। इसलिये चेतन से जड की उत्पत्ति अथवा जड़ से चेतन की उत्पत्ति मानने वाले दोनो वादी एक ही स्तर पर आ खड़े होते है। फलतः यह सिद्धान्त बुद्धिगम्य है कि न चेतन जड बनता है और न जड़ चेतन बनता है, चेतन सदा चेतन है, जड सदा जड़ है। इससे यह स्पष्ट होता है कि जड़ जगत् जिस मूल तत्त्व का परिणाम है, वह जड़ होना चाहिये। इसलिये चेतन ईश्वर से अतिरिक्त मूल उपादान तत्व मानना होगा, उसी का नाम प्रकृति है।

जब यह कहा जाता है, कि सर्वशक्तिमान् ईश्वर अपनी शक्ति से जगत् को उत्पन्न कर देगा, उस समय प्रकृति को ही उसकी शक्ति के रूप मे कथन कर दिया जाता है। वैसे सर्वशक्तिमान् पद के अर्थ मे यही भाव अन्तर्निहित है कि

जगत् की रचना करने मे ईश्वर को अन्य किसी कर्त्ता के सहयोग की अपेक्षा नही रहती। वह इस कार्य के लिये पूर्ण शक्त है, अप्रतिम समर्थ है। फलतः यह जगत् परिणाम प्रकृति का ही होता है, ईश्वर केवल इसका निमित्त, प्रेरयिता, नियन्ता व अधिष्ठाता है। यही सत्य स्वरूप प्रकृति सब जगत् का मूल घर और स्थिति का स्थान है।

इस प्रसंग मे सत्यार्थप्रकाश [स्थूलाक्षर, वेदानन्द संस्करण, पृ० १६१, पंक्ति १०-१२] के अन्दर एक वाक्य है, जिसे अस्पष्टार्थ कहा जाता है। वह वाक्य है —'यह अब जगत् सृष्टि के पूर्व असत् के सदृश और जीवात्मा ब्रह्म और प्रकृति में लीन होकर वर्त्तमान था, अभाव न था, इस वाक्य के अभिमत अर्थ को स्पष्ट करने व समझने के लिये इसमे से दो अवान्तर वाक्यांशो का विभाजन करना होगा। इस वाक्य मे से 'और जीवात्मा ब्रह्म' इन पदों को अलग करके रख लीजिये फिर शेष वाक्य को पढ़िये, वह इस प्रकार होगा—'यह सब जगत् सृष्टि के पूर्व असत् के सदृश और प्रकृति मे लीन होकर वर्त्तमान था, अभाव न था।' इतना वाक्य एक पूरे अर्थ को व्यक्त करता है। जगत् जो अब हमारे सामने विद्यमान है, यह सृष्टि के पूर्व अर्थात् प्रलय अवस्था मे असत् के सदृश था, सर्वथा असत् या तुच्छ न था, कारण यह है कि यह प्रकृति मे लीन होकर वर्तमान था, तात्पर्य यह कि कारण-रूप से विद्यमान था, इससे प्रतीत होता है, कि ऋषि ने कार्यकारणभाव मे सत्कार्य सिद्धान्त को स्वीकार किया है, प्रलय अवस्था मे जगद्रूप कार्य कारण रूप से विद्यमान रहता है, उसका सर्वथा अभाव नहीं हो जाता।

जो पद हमने उक्त वाक्य मे से अलग करके रक्खे हैं वे दो अवान्तर वाक्यो को बनाते है—१—'और जीवात्मा वर्त्तमान था'। २—'ब्रह्म वर्तमान था' तात्पर्य यह कि प्रलय अवस्था मे प्रकृति के साथ जीवात्मा और ब्रह्म भी वर्तमान थे। इस प्रकार उक्त पंक्ति से ऋषि ने उस अवस्था मे तीन अनादि पदार्थों की सत्ता को स्पष्ट किया है तथा इस मन्तव्य का एक प्रकार से प्रत्याख्यान किया है, जो उस अवस्था मे एक मात्र ब्रह्म की सत्ता को स्वीकार करते हैं, जीव तथा प्रकृति की स्थिति को नही मानते, इनका उद्भव ब्रह्म से ही मान लेते हैं।

तीन अनादि पदार्थों के मानने पर जगद्रचना की व्याख्या सर्वाधिक निर्दोष की जा सकती है। कारण यह है कि लोक मे किसी भी रचना के हेतु तीन

प्रकार के देखे जाते हैं। प्रत्येक कार्य का कोई वनाने वाला होता है, कुछ पदार्थ होते है, जिनसे वह कार्य बनाया जाता है, कुछ सहयोगी साधन होते है। पहला कारण निमित्त कहाता है, दूसरा उपादान और तीसरा साधारण। संसार में कोई ऐसा कार्य संभव नही, जिस के ये तीन कारण नही। जब दृश्यादृश्य जगत् को कार्य माना जाता है तो उसके तीनो कारणो का होना आवश्यक है। इसमे जगत् की रचना का निमित्त कारण ईश्वर, उपादान कारण प्रकृति तथा जीवो के कृत शुभाशुभ कर्म अथवा धर्माधर्म आदि साधारण कारण होते हैं। इसलिये इन तीनो पदार्थों को अनादि माने बिना सृष्टि की निर्दोष व्याख्या नहीं की जा सकती।

ब्रह्म से ही जगत्-उत्पत्ति नहीं ?

प्रश्न—वेदान्त दर्शन पर विचार करने वाले तथाकथित नवीन आचार्यो की यह मान्यता है, कि एकमात्र ब्रह्म को वास्तविक तत्त्व मानने पर सृष्टि की व्याख्या की जा सकती है। उनका कहना है, कि जगत् के निमित्त और उपादान कारण को अलग मानना अनावश्यक है। एकमात्र ब्रह्म स्वय अपने से जगत् को उत्पन्न कर देता है, उसे अन्य उपादान की अपेक्षा नही। लोक मे ऐसे दृष्टान्त देखे जाते है। मकड़ी अपने आप से ही जाला बुन देती है, बाहर से उसे कोई साधन-सहयोग लेने की अपेक्षा नही होती, ऐसे ही जीवित पुरुष से केश-नख स्वत: उत्पन्न होते रहते है। इसी प्रकार ब्रह्म अपने से ही जगत् को उत्पन्न कर देता है।

उत्तर—यह बात पहले कही जा चुकी है, यदि ब्रह्म अपने से जगत् को बनावे तो वह विकारी या परिणामी होना चाहिये। ब्रह्म चेतन तत्व है, चेतन कभी विकारी नही होता। इसके अतिरिक्त यह भी बात है, चेतन ब्रह्म का परिणाम जगत् जड कैसे हो जाता ? क्योकि कारण के विशेष गुण कार्य में अवश्य आते है। या तो जगत् भी चेतन होता, या फिर कार्य जड़-जगत् के अनुसार उपादान कारण ईश्वर या ब्रह्म को भी जड मानना पडता। पर न जगत् चेतन है, और न ईश्वर जड। इसलिये ईश्वर को जगत् का उपादान कारण नहीं माना जा सकता।

ब्रह्म उपादान से जगत् की उत्पत्ति में मकड़ी आदि के जो दृष्टान्त दिये जाते हैं, उनकी वास्तविकता की ओर किसी ब्रह्मोपादानवादी ने क्यों ध्यान नहीं दिया, यह आश्चर्य की बात है। ये दृष्टान्त उक्त मत के साधक न होकर केवल बाधक हैं। मकडी एक प्राणी है, जिसका शरीर भौतिक या प्राकृतिक है, और उसमे एक चेतन जीवात्मा का निवास है। उस प्राणी द्वारा जो जाला बनाया जाता है, वह उस भौतिक शरीर का विकार या परिणाम है, चेतन जीवात्मा का नही। यह भी ध्यान देने की बात है कि शरीर से जाला उसी अवस्था मे बन सकता है, जब शरीर का अधिष्ठाता चेतन जीवात्मा वहाँ विद्यमान रहता है। वह स्थिति इस बात को स्पष्ट करती है कि केवल जड़ तत्व चेतन के सहयोग विना स्वतः विकृत या परिणत नही होता। दृष्टान्त से स्पष्ट है, जाला रूप जड विकार जड शरीर का है, चेतन जीवात्मा का नही। इस दृष्टान्त का उद्भावन करने वाले उपनिषद (यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च) वाक्य मे यही स्पष्ट किया है, कि जैसे मकड़ी जाला बनाती और उसका संहार करती है, उसी प्रकार अविनाशी ब्रह्म से यह विश्व प्रादुर्भूत होता है।

उपनिषद के उस वाक्य में 'यथा' और 'तथा' शब्द ध्यान देने योग्य हैं। जैसे मकड़ी जाला बनाती और उपसंहार करती है 'तथाऽक्षरात्सभवतीह विश्वम्' वैसे अविनाशी ब्रह्म से यहाँ विश्व प्रादुर्भूत होता है। अब देखना यह है कि जाला मकड़ी के भौतिक शरीर से परिणत होता है और बनाने वाला अधिष्ठाता चेतन आत्मा वहाँ इस प्रवृत्ति का प्रेरक है, चेतन स्वयं जाला नहीं बनता, ऐसे ही ब्रह्म अपने प्रकृति रूप देह से विश्व का प्रादुर्भाव करता है, समस्त विश्व परिणाम प्रकृति का ही है, प्रकृति से होने वाली समस्त प्रवृत्तियों का प्रेरक व अधिष्ठाता परमात्मा रहता है। वह स्वय विश्व के रूप मे परिणत नहीं होता, इसलिए वह विश्व का केवल निमित्त कारण है, उपादान कारण नहीं हो सकता।

जगत् का निर्माण क्यों ?

प्रश्न—यह ठीक है, कि सृष्टिकर्त्ता ईश्वर है, और वह प्रकृति मूल उपादान से जगत् की रचना करता है; परन्तु प्रश्न है, जगत् की रचना में उसका क्या प्रयोजन है ? जगत् की रचना किस लक्ष्य को लेकर की जाती है, यदि इसका कोई प्रयोजन हो नही, तो रचना व्यर्थ है, उसने

क्यों ऐसा किया ? वह तो सर्वज्ञ है, फिर ऐसी निष्प्रयोजन रचना क्यों ?

उत्तर—प्रयोजन कामनामूलक होता है। ब्रह्म को ब्रह्म ज्ञानियों ने पूर्णकाम व आप्तकाम बताया है, इसलिये सृष्टि रचना में ईश्वर का कामना मूलक कोई निजी प्रयोजन नहीं रहता। यह एक व्यवस्था है और ईश्वरीय व्यवस्था है, वह स्वयं अपनी व्यवस्था से बाहर नही जाता, उसके नियम सत्य है और पूर्ण हैं। उनके अनुसार ईश्वर सृष्टि रचना करता है—जीवात्माओ के भोग और अपवर्ग की सिद्धि के लिये। उसका यह कार्य उसकी एक स्वाभाविक विशेषता है, इसमे कभी कोई अन्तर या विपर्यास आने की सभावना नहीं की जा सकती। सृष्टिरचना के द्वारा ही परमात्मा का बोध होता है, और इस मार्ग से जीवात्मा मोक्ष को प्राप्त करता है। जब यह प्राप्त नहीं होती, तब कर्मों को करता और उनके अनुसार सुख-दुःख आदि फलों को भोगा करता है, सृष्टि-रचना का यही प्रयोजन है।

निराकार से साकार सृष्टि कैसे ?

प्रश्न—ईश्वर को निराकार माना जाता है, वह निराकार होता हुआ सृष्टि की रचना कैसे करता है ? लोक मे देखा जाता है, कि कोई भी कर्त्ता देहादि साकार सहयोगी के बिना किसी प्रकार की रचना करने मे असमर्थ रहता है, तब निराकार ईश्वर इस अनन्त विश्व की रचना करने मे कैसे समर्थ होता है ?

उत्तर—अनन्त विश्व की रचना करने वाला निराकार ही संभव हो सकता है। जहाँ ईश्वर को निराकार माना गया है, वहाँ उसे सर्वव्यापक और सर्वशक्तिमान् भी कहा गया है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, 'सर्वशक्तिमान्' का यही तात्पर्य है, कि वह जगद्रचना मे अन्य किसी सहायक की अपेक्षा नहीं रखता, उसमे अनन्त शक्ति व पराक्रम है उसका चैतन्य रूप सामर्थ्य असीम है; वह उसी सामर्थ्य द्वारा मूल उपादान जड प्रकृति को प्रेरित करता है, उसकी अनन्त सामर्थ्य युक्त व्यवस्था सूक्ष्मातिसूक्ष्म तत्वों में सर्वत्र व्याप्त है। वह कण-कण मे अपना कार्य किया करती है। जीवात्मा अल्पज्ञ, अल्पशक्ति एवं एकदेशी है। उसे अपने किसी कार्य को सपन्न करने के लिये अन्तरंग साधन करण (बुद्धि मन आदि) तथा बाह्य साधन देह एवं देहावयवो की अपेक्ष

रहती है। इसलिये लोक मे देखी गई स्थूल व्यवस्था के अनुसार ऐश्वरी सृष्टि के विषय में ऊहा करना उपयुक्त न होगा।

यदि गम्भीरता पूर्वक विचार किया जाय तो जीवात्मा द्वारा की जाने वाली प्रेरणाओं मे उस स्थिति को पकड़ा जा सकता है, जहाँ किसी साकार सहयोगी की अपेक्षा नही जानी जाती। विचार कीजिये आप कुर्सी पर बैठे हैं, मेज आपके सामने है, मेज पर आप का हाथ निश्चेष्ट रक्खा हुआ है, उससे कुछ दूर मेज के कोने पर कलम रक्खा है, आप उसे उठाकर कुछ लिखना चाहते है। आपकी इस इच्छा के साथ ही हाथ में हरकत होती है, वह ऊपर उठता और अंगुलियो में कलम पकड़ कर फिर पहली जगह आ टिकता है। अब विचारना यह है कि हाथ में उठने के लिये जो क्रिया हुई है, वह एक प्रेरणा का फल है, देह के अन्दर बैठा जो आपका चेतन आत्मा है, उसी से यह प्रेरणा प्राप्त होती है। प्रेरणा देने की सीमा में चैतन्य के अतिरिक्त किसी अन्य साकार सहयोगी का समावेश नह है। यहाँ केवल चेतन आत्मा प्रेरणा दे रहा है, जो निराकार है। उसके अन्य साधन बुद्धि, मन आदि प्रेर्यमाण सीमा में आते हैं, प्रेरक सीमा में नहीं। इससे यह परिणाम निकलता है, कि चैतन्य एक ऐसा तत्व है, जो प्रेरणा का अन्य आधार व स्रोत है, जिसमे किसी अन्य साकार सहयोगी की अपेक्षा नही रहती। जीव-चेतन की शक्ति जैसे अति सीमित है, ऐसे ब्रह्म-चेतन की शक्ति असीमित है, जैसे जीव केवल देह मे प्रेरणा प्रदान करता है, ऐसे परमेश्वर अनन्त सामर्थ्ययुक्त होने से अनन्त विश्व को प्रेरित करता है। सृष्टि रचना के विचार मे यदि साकार सहयोगी की कल्पना की जाय तो वस्तुतः यह रचना ही असंभव हो जायगी, क्योकि वह सहयोगी भी विना रचना के असंभव होगा। फलतः अनन्त विश्व की रचना के लिये निरपेक्ष निराकार चैतन्य ही समर्थ हो सकता है, यह निश्चित है।

बिना कारण क्यों नहीं ?

प्रश्न—ईश्वर जब सर्वशक्तिमान् है, तो वह बिना कारण के ही जगत् को क्यो नही बना देता ?

उत्तर—यह सभव नहीं। बिना कारण के कोई कार्य नही होता, कारण न होना 'अभाव' का स्वरूप है, जो अभाव है वह कभी भावरूप मे परिणत नही हो सकता, और न भावरूप पदार्थ का कभी सर्वथा अभाव होता है।

बिना कारण अथवा अभाव से जगत की उत्पत्ति कहना वन्ध्यापुत्र के विवाह के समान मिथ्या है।

प्रश्न—जब कारण के बिना कुछ नही हो सकता, तो कारण का भी कोई कारण मानना होगा, और उसका भी कोई अन्य कारण; इस प्रकार तुम्हारे इस कथन मे अनवस्था दोष आता है, कि कारण के बिना कुछ नही हो सकता।

उत्तर—हमने यह नही कहा कि कारण के बिना कुछ नहीं हो सकता। हमने कहा है—कोई कार्य कारण के बिना नही हो सकता। ऐसे भी पदार्थ हैं, जो किसी के कारण हैं, पर वे स्वय किसी के कार्य भी है। ऐसे पदार्थों को 'कारणकार्य' अथवा 'प्रकृति-विकृति' कहा जाता है। जैसे घड़ा मिट्टी स बनता है, मिट्टी पृथ्वी रूप है, पृथ्वी घड़े मकान आदि का कारण होते हुए भी अपने कारणों का कार्य है, अर्थात् जिन कारणों से पृथ्वी की रचना होती है उनका कार्य है। परन्तु जो सब कार्य जगत् का मूल कारण है, उसका और कोई कारण नही होता, जगत का मूल उपादान कारण अनादि पदार्थ है, वह किसी से उत्पन्न या परिणत नहीं होता, यदि ऐसा होता तो वह मूल कारण नहीं हो सकता था। इस प्रकार जैसे जगत् का कर्त्ता निमित्त कारण ईश्वर अनादि है, वैसे ही जगत् का मूल उपादान कारण प्रकृति भी अनादि है। उसका अन्य कोई कारण संभव नहीं, क्योंकि वह कार्य नहीं, केवल कारण है, अतएव अनवस्था दोष की यहाँ संभावन नहीं हो सकती।

अन्य वादों का विवेचन

प्रश्न—आप प्रकृति उपादान से जगत् की सृष्टि कहते हैं, पर अन्य अनेक आचार्यों के सृष्टि की उत्पत्ति के विषय मे विविध विचार हैं, क्या उनमें कोई सत्यता नही है ? उन विचारों को निम्नलिखित वादो के रूप मे उपस्थित किया जा सकता है—शून्यवाद, अभाववाद, आकस्मिक-वाद, सर्वानित्यत्ववाद, भूतनित्यत्ववाद, पृथक्त्ववाद, इतरेतराभाववाद, स्वभाववाद, जगदनादिवाद, जीवेश्वरवाद आदि। क्या इनके अनुसार सृष्टि की यथार्थ व्याख्या सभव नही ?

उत्तर—इन वादो के आधार पर सृष्टि की सत्य एवं पूर्ण व्याख्या होना सम्भव नहीं, ये सब एकदेशी अवैदिक वाद हैं, जो किसी एक अंश पर धुंधला

सा प्रकाश डालते हैं, कहीं वह भी नहीं, प्रत्युत प्रकाश की जगह अन्धकार का ही विस्तार करते हैं। जगत् को यथार्थ विद्यमानता पहले दोनो वादो को ठुकरा देती है। किसी वस्तु का 'होना' कहना अथवा 'उत्पन्न होना' बताना और उसे अकस्मात् कहना परस्पर विरोधी हैं, जो वस्तु उत्पन्न होती है, वह निश्चित ही अपने कारणो से होगी, यह अलग बात है, कि हम उन कारणो को जान सके या न जान सकें। सब वस्तु अनित्य है, अथवा भूत नित्य हैं इसलिए सब वस्तु नित्य हैं, ये कथन अपने ही मे मिथ्या है, किसी वस्तु का नित्य या अनित्य होना विशिष्ट निमित्तो पर आधारित है, उत्पन्न होने वाली वस्तु अनित्य तथा उत्पाद-विनाश से रहित वस्तु नित्य कही जाती है; यह एक व्यवस्था है। प्रत्येक वस्तु न नित्य हो सकती है, न अनित्य।

पृथक्त्ववाद आधुनिक रसायनशास्त्र से पर्याप्त सीमा तक मेल रखता है। रसायनशास्त्र के अनुसार आज तक ऐसे एक सौ दो पदार्थों का पता लग चुका है, जो मूल रूप में एक दूसरे से पृथक् हैं, एक दूसरे मे किसी का कोई अंश नही है, भविष्य मे और भी ऐसे अनेक पदार्थों का पता लग जाने की सभावना है। सोना, चाँदी, लोहा, तावा, पारा, गन्धक, जस्ता, सीसा, कैल्शिअम, आक्सीजन, हाइड्रोजन, कॉर्बन, नाइट्रोजन, सिलिकन्, फास्फोरस, ऐल्युमिनिअम, आर्सेनिक, प्लैटिनम् आदि सब ऐसे पदार्थ हैं, जो सर्वथा एक दूसरे से पृथक् हैं। किसी मे किसी का कोई अंश नहीं है। पर भौतिकी विज्ञान ने ही इस तथ्य को स्पष्ट कर दिया है, कि ये सब किन्ही मूल तत्त्वो के सम्मिश्रण से बने हैं। वे मूल तत्त्व प्रोटीन, इलैक्ट्रॉन् और न्यूट्रॉन् है, भारतीय दार्शनिक विचार के अनुसार इन्हे यथाक्रम सत्त्व रजस् तमस् के वर्ग में समझा जा सकता है। वैसे भी उक्त पदार्थों मे से प्रत्येक मे आकाश, काल, सामान्य [जाति] एव नियन्तृशक्ति परमात्मा आदि का विद्यमान रहना अनिवार्य है, इसलिये स्वरूप से इनके पृथक् रहते भी इनमे अन्य पदार्थों का अस्तित्व रहता ही है।

पदार्थों के इतरेतराभाव से सब पदार्थों का अभाव बताना सर्वथा प्रत्यक्ष विरुद्ध है। गाय घोड़ा नही, घोड़ा गाय नहीं, इसलिये न गाय है न घोड़ा, ऐसा कहना नितान्त विचार शून्य है। यद्यपि गाय घोडा नहीं है, पर गाय गाय है, घोड़ा घोड़ा है, उनके अपने अस्तित्व को कैसे झुठलाया जा सकता है।

'स्वभाव' से जगत् की उत्पत्ति कहना, किस अर्थ को प्रकट करता है, यह विचारणीय है। 'स्वभाव' मे 'स्व' पद का अर्थ क्या है ? यदि पद मूल कारण को कहता है, तो इस पद मात्र के अलग कहने से कोई अन्तर नहीं आता, अपने मूल कारण से जगत् उत्पन्न होता है, यही उसका तात्पर्य हुआ। इसी प्रकार वर्तमान रूप मे जगत् को अनादि कहना प्रमाण विरुद्ध है। जागतिक वस्तुओं मे परिणाम व परिवर्तन अथवा उत्पादन-विनाश बराबर देखा जाता है, जो इस के बने हुए होने को सिद्ध करता है, इसी रूप में जगत् को अनादि कहना अयुक्त है। पृथिव्यादि पदार्थ अवयव संयोग से बने परीक्षा द्वारा प्रत्यक्ष देखे जाते हैं। यह कहना भी सर्वथा अयुक्त है, कि जगत् का कर्ता ईश्वर कोई नहीं, जीवात्मा ही सिद्ध अवस्था को प्राप्त होकर जगद्रचना कर सकते है। जीवात्मा की सिद्ध अवस्था तक पहुँचने के लिये भी संसार की आवश्यकता है, यह संसार किसने बनाया ? किसी जीवात्मा का अनादि सिद्ध होना सम्भव नहीं। यदि कोई चेतन आत्मतत्त्व सृष्टि रचना का सामर्थ्य रखने वाला अनादि सिद्ध माना जाता है, तो उसे ही परमात्मा कहा जा सकता है।

सृष्टि का क्रम प्रवाह से अनादि है, उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय जगत् के अनादि काल से चले आते है, अनन्त काल तक इसी प्रकार चलते रहेंगे, यह ऐश्वरी व्यवस्था है। कल्प-कल्पान्तर मे परमेश्वर ऐसी ही सृष्टि को बनाता, धारण करता एवं प्रलय करता रहता है। ईश्वर के कार्य मे कभी भूल चूक या विपर्यास नही होता।

दर्शनों में विरोध

प्रश्न—सृष्टि विषय मे क्या वेदादि शास्त्रो का एवं भारतीय दर्शनो का परस्पर विरोध नही है ? कही आत्मा से, कही परमाणु से, कही प्रकृति से, कही ब्रह्म और कही काल एव कर्म से सृष्टि कही है। इनमें स्पष्ट विरोध प्रतीत होता है।

उत्तर—इनमे विरोध कोई नहीं, ये सब एक दूसरे के पूरक हैं। प्रत्येक कार्य अनेक कारणो से बनता है। यह कहा जा चुका है, कार्यमात्र के तीन कारण हुआ करते हैं, निमित्त, उपादान और साधारण। न्यायादि दर्शनो मे

जगत् के विभिन्न कारणों का वर्णन है, और उसके लिये अन्य उपयोगी विधियों का। प्रत्येक वस्तु की सिद्धि के किसी भी स्वर पर हमें प्रमाणों का आश्रय लेना पड़ता है, इस स्थिति का कोई दर्शन विरोध नहीं करता। तत्त्व विषयक जिज्ञासा होने पर प्रारम्भ में शिक्षा का उपक्रम वहीं से होता है, जिनका प्रतिपादन वैशेषिक दर्शन करता है। तत्त्वों के स्थूल-सूक्ष्म साधारण स्वरूप और उनके गुण-धर्मों की जानकारी पर ही आगे तत्त्वों की अति सूक्ष्म अवस्थाओ को जानने समझने की ओर प्रवृत्ति एवं क्षमता का होना सम्भव है। प्रमाण और बाह्य प्रमेय का विषय न्याय-वैशेषिक दर्शनों में प्रतिपादित किया गया है। तत्त्वों की उन अवस्थाओ और चेतन-अचेतन रूप मे उनके विश्लेषण को साख्य प्रस्तुत करता है। चेतन-अचेतन के भेद को साक्षात्कार करने की प्रक्रियाओ का वर्णन योग मे है। इन प्रक्रियाओं के मुख्यसाधनभूत मन की जिन विविध अवस्थाओं के विश्लेषण का योग में वर्णन है, वह मनोविज्ञान की विभिन्न दिशाओं का केन्द्रभूत आधार है। समाज के कर्त्तव्य-अकर्त्तव्यो का वर्णन मीमांसा, एवं समस्त विश्व के सचालक व नियन्ता चेतन तत्त्व का वर्णन वेदान्त करता है। यह ज्ञानसाधन कार्य-क्रम भारतीय संस्कृति के अनुसार वर्णाश्रम धर्मों एव कर्त्तव्यो के रूप मे पूर्णतया व्यवस्थित है। इन उद्देश्यो के रूप में कही किसी का किसी के साथ विरोध का उद्भावन अकल्पनीय है। दर्शनों मे जिन तत्त्वों का निरूपण किया है, सृष्टि-रचना मे एक दूसरे के पूरक होकर वे तत्त्व पहले कहे तीन कारणो मे अन्तर्हित अथवा समाविष्ट हैं, इनमें विरोध का कहीं अवकाश नही।

प्राणी का प्रादुर्भाव कैसे ?

प्रश्न—पृथिव्यादि लोक-लोकान्तर तथा पृथिवी पर औषधि वनस्पति आदि उत्पन्न हो जाने पर सचरणशील प्राणी का प्रादुर्भाव कैसे होता है ? चालू सर्गक्रम मे ऐसे प्राणी का प्रजनन मिथुनमूलक देखा जाता है, यह स्थिति सर्वादिकाल में होनी संभव नही। यह एक उलझन भरी समस्या है, कि सर्वप्रथम प्राणी का प्रादुर्भाव कैसे हुआ।

उत्तर—सर्वप्रथम प्राणी का प्रादुर्भाव बाह्य मिथुनमूलक नही होता। परमात्मा अपनी अचिन्त्यशक्ति एवं व्यवस्था के अनुसार स्त्री-पुरुषो के शरीर

बनाकर उनमे जीवो का सयोग कर देता है। शरीर की रचना जिस प्रक्रिया के अनुसार चालू होती है, उसमे जीवात्मा का संचार प्रथमत: हो जाता है। प्राणी शरीर की रचना अत्यन्त जटिल है, शरीर-रचना की इस सुव्यवस्था को देखकर रचना करने वाले का अनुमान होता है, जो व्यवस्था जिस प्राणी वर्ग मे निहित कर दी गई है। वह चालू संसार के मिथुन-मूलक प्रजनन मे अब तक चली आ रही है, और प्रलयपर्यन्त चलती रहेगी। इससे आदि शरीर की रचना बाह्य मैथुन रहित केवल परमात्मा की नित्य व्यवस्था के अनुसार होती है। यह अनुमान वर्तमान मे देखी गई व्यवस्था के आधार पर किया जा सकता है।

प्रश्न—इतने कथन से आदि सर्ग मे मानव शरीर रचना की प्रक्रिया का स्पष्टीकरण नही होता। इसका और स्पष्ट विवरण देना चाहिए।

उत्तर—आदि सर्ग मे प्राणी देह की रचना ऐश्वरी सृष्टि में गिनी जाती है। सर्वप्रथम जो प्राणी हुए, विशेषत: मानव प्राणी, उनका पालन-पोषण करने वाला माता-पिता आदि कोई न था। इसलिये यह निश्चित सम्भावना होती है, कि वे मानव किशोर अवस्था मे प्रादुर्भूत हुए, कतिपय आधुनिक वैज्ञानिक भी ऐसा मानने लगे हैं। बोस्टन नगर के स्मिथसोनियन इन्स्टीट्यूट के जीव विज्ञान शास्त्र के अध्यक्ष डा० क्लॉर्क का कथन है—मानव जब प्रादुर्भूत हुआ, वह विचार करने, चलने फिरने और अपनी रक्षा करने के योग्य था Man appeared able to think walk and defend himself.

समस्या यह है, कि मानव का ऐसा विकसित देह सर्वप्रथम प्रादुर्भूत कैसे हुआ? उसकी रचना किस प्रकार हुई होगी? सचमुच यह समस्या अत्यन्त गम्भीर है। ऐसी स्थिति मे ऐसे शरीरो का प्रकट हो जाना अनायास बुद्धिगम्य नही है। इसे समझने के लिये हमे चालू सर्गकाल के प्रजनन की स्थिति पर ध्यान देना चाहिये, सम्भव है वहाँ की कोई पकड इस समस्या को सुलझाने में सहयोग दे सके। साधारण रूप से प्रजनन की विधा चार वर्गों मे विभक्त है—जरायुज, अण्डज, उद्भिज्ज और स्वेदज अथवा ऊष्मज। अन्तिम वर्ग अतीसुक्षम अदृश्य कृमिकीटो से लगाकर दृश्य क्षुद्रजन्तुओ तक का है। इस वर्ग

के प्राणी का देह नियत ऊष्मा पाकर अपने कारणों से उद्भूत हो जाता है। उद्भिज्ज वर्ग वनस्पति का है। चालू सर्ग काल में देखा जाता है, कि बीज से वृक्ष होता है, पर सबसे पहले वृक्ष का बीज कैसे हुआ, यह विचारणीय है। निश्चित है, कि वह बीज वृक्ष पर नहीं लगा, तब यही अनुमान किया जा सकता है, कि उसकी रचना प्रकृति गर्भ मे होती रही होगी। बीज में प्रजनन शक्ति-अंश एक कोष (खोल) मे सुरक्षित रहता है, यह स्पष्ट है। वृक्ष पर बीज के निर्माण की प्रक्रिया भी नियन्ता की व्यवस्था के अनुसार प्रकृति का एक चमत्कार हैं, वंश बीज-निर्माण की प्रक्रिया क्या है, प्रजनन-अंश किस प्रकार कोष मे सुरक्षित हो जाते हैं, जड़ से बीज तक कैसे उसका निर्माण होता आता है, इसे आज तक किसने जाना हे ? इसी प्रकार अण्डजवर्ग मे बीज एक अति सुरक्षित कोष मे आहित रहता है, इस वर्ग मे कीड़ी तथा उससे भी अन्य कतिपय सूक्ष्म जन्तुओ से लेकर अनेक सरीसृप जाति के प्राणी स्थलचर तथा जलचर एव नभचर पक्षी जाति का समावेश है। विभिन्न जातियों के देहो के अनुसार कोश की रचना छोटी-बड़ी देखी जाती है। इस वर्ग का भ्रूण एक विशेष प्रकार के खोल से सुरक्षित रहता है, मातृ-गर्भ में उपयुक्त पोषण प्राप्त कर गर्भ से बाहर भी नियत काल तक कोश युक्त रहता हुआ पोषण प्राप्त करता है। भ्रूण का यथायथ परिपाक होने पर खोल फटता है, और बच्चा निकल आता है, यह प्रकृति का एक चमत्कार है। इस वर्ग में उत्पत्तिकाल की दृष्टि से कुछ अधिक बड़े देहवाले प्राणियो का समावेश है, तथा यह एक विचारणीय बात है, कि भ्रूण का गर्भ से बाहर भी परिपोषण होता है।

अण्डज वर्ग के आगे बड़ी देह वाला प्राणी-वर्ग जरायुज है, जिसमे मानव एव समस्त पशु-मृग आदि का समावेश है। कोश मे भ्रूण के परिपोषण की प्राकृत व्यवस्था इस वर्ग मे भी समान है। मातृगर्भ भ्रूण पूर्णाङ्ग होने तक जरायु मे परिवेष्टित रहता है। स्निग्ध सुदृढ़ चमड़े जैसे पदार्थ की थैली का नाम जरायु है, पूर्णाङ्ग होने पर बालक इसको भेद कर ही मातृगर्भ से बाहर आता है। इस प्रकार भ्रूण की सुरक्षा, उपयुक्त पुष्टि व वृद्धि तक के लिए उसका विशिष्ट कोश मे परिवेष्टित होना सर्वत्र प्राणी-वर्ग में समान है। यह एक ऐसी नियत व्यवस्था है, जो प्राणी के प्रादुर्भाव की आद्य-स्थिति पर

पर्याप्त प्रकाश डालती है। चालू सर्गकाल अथवा मैथुनी सृष्टि में नर-मादा का संयोग प्राणी के साजात्य प्रजनन की जिस स्थिति को प्रस्तुत करता है, वह स्थिति अमैथुनी सृष्टि में प्राकृत नियमों व व्यवस्थाओ के अनुसार प्रकृति गर्भ मे प्रस्तुत हो जाती है। इस व्यवस्था से और अण्डजवर्ग के समान मातृगर्भ से बाहर भ्रूण की परिपोषण प्रक्रिया से यह अनुमान होता है कि सर्व-प्रथम आदिकाल मे मानव आदि बड़े देहों की रचना प्रकृतिपोषित सुरक्षित उपयुक्त कोशो द्वारा हुई होगी। चालू सर्गकाल मे देहों के अनुसार कोशो के आकार में विभिन्नता देखी जाती है। यह सम्भव है, आदिकाल में प्रकृतिनिर्मित उपयुक्त कोशों में सुरक्षित एव परिपोषित मानव आदि के किशोरावस्थापन्न सजीव देह यथावसर प्रादुर्भूत हुए हों। आदिसर्ग मे विविध प्राणियों का अनेक संख्या मे प्रादुर्भाव हो जाता है, यह मानने मे कोई बाधा नहीं है। यह सब जीवो के कर्मानुसार ऐश्वरी व्यवस्था के सहयोग से हुआ करता है।

आदि मानव का मूल स्थान

प्रश्न—सर्वप्रथम मानव का प्रादुर्भाव पृथ्वी के किस प्रदेश पर हुआ ?

उत्तर—भारतीय साहित्य के आधार पर अनेक दिशाओं से यह स्पष्ट होता है कि मानव का सर्व प्रथम प्रादुर्भाव 'त्रिविष्टप' नामक प्रदेश में हुआ, जो वर्तमान तिब्बत के कैलाश, मानसरोवर प्रदेश तथा उससे सुदूर पच्छिम और कुछ दक्खिन-पच्छिम की ओर फैला हुआ था। कुछ समय पश्चात् गंगा सरस्वती आदि नदी घाटियों के द्वारा आर्यो ने भारत प्रदेश में आकर निवास किया और इसका आर्यावर्त्त नाम रक्खा, सर्वप्रथम यहां आर्यो का निवास हुआ। उनसे पहले यहाँ अन्य किसी मानव का निवास नहीं था। आर्यो का मूल स्थान और यह भूभाग एक ही देश था। आर्य कहीं बाहर से यहाँ कभी नही आये। इक्ष्वाकु से लेकर कौरव-पाण्डव पर्यन्त पृथ्वी के इन समस्त भागो पर आर्यो का अखण्ड राज्य और वेदो का थोड़ा-थोड़ा सर्वत्र प्रचार रहा। अनन्तर आर्यों का आलस्य, प्रमाद और परस्पर का विरोध समस्त ऐश्वर्य एवं विभूतियो को ले बैठा। पृथिव्यादि लोको की लगभग एक

अरब सत्तानवें करोड़ वर्ष की आयु में अब तक आर्यों का अधिक काल अभ्युदय का बीता है। वेद धर्म पर प्रज्ञा पूर्वक आचरण करने से अब भी उत्कृष्ट अभ्युदय की सम्भावना की जा सकती है।

इस प्रकार सर्वशक्तिमान् परमेश्वर ने अतिसूक्ष्म प्रकृतिरूप उपादान करण से जगत् को बनाया, जो असंख्य पृथिव्यादि लोक-लोकान्तरों के रूप मे दृष्टि-गोचर हो रहा है। ये समस्त लोक अपनी गति एव परस्पर के आकर्षण से ऐश्वरी व्यवस्था के अनुसार अनन्त आकाश मे अवस्थित हैं। जैसे परमेश्वर इन सब का उत्पादक है, वैसे ही इनका धारक एवं सहारक भी रहता है। हमारी इस पृथ्वी के समान अन्य लोक-लोकान्तरों मे भी प्राणी का होना संभव है। जीवात्माओ के कर्मानुष्ठान और सुख-दु:खादि फलो को भोगने तथा आत्म-ज्ञान होने पर अपवर्ग की प्राप्ति जगद्रचना का प्रयोजन है। असंख्य लोकान्तरो की रचना का निष्प्रयोजन होना सम्भव है। अतः लोकान्तरो मे भी प्राणी का होना सम्भव है। वेद का ज्ञान सब के लिए समान है। समस्त विश्व पर परमेश्वर का नियन्त्रण रहता है। उसी व्यवस्था के अनुसार सब तत्त्व अपना कार्य किया करते हैं।

●

मै आधुनिक भारत के मार्ग-दर्शक उस दयानन्द को आदरपूर्वक श्रद्धांजलि देता हूं, जिसने देश की पतितावस्था मे भी हिन्दुओ को प्रभु की भक्ति और मानव-समाज की सेवा के सीधे व सच्चे मार्ग का दिग्दर्शन कराया।

—कवीन्द्र रवीन्द्रनाथ ठाकुर

विद्या-अविद्या और बन्ध-मोक्ष विषयों की व्याख्या

सत्यार्थप्रकाश के नवम समुल्लास
के आधार पर

श्री जगदेवसिंह 'सिद्धान्ती'

● ● ●

ज्ञान का उत्कर्ष विद्या और अपकष है 'अविद्या'। 'अविद्या' कारण है बन्धन का और विद्या मार्ग खोलती है मोक्ष का।

सत्यार्थप्रकाश के नवम समुल्लास मे ऋषि ने विद्या—अविद्या, बन्ध—मोक्ष में जीव की सत्ता, मोक्ष से पुनरावृत्ति, मोक्ष साधन, परमात्मा की व्याख्या, कर्मफल आदि विषयो का वैज्ञानिक युक्तिसगत विवेचन कर ससार के सभी पक्षों को राह दिखायी।

सिद्धान्तो के मर्मज्ञ विद्वान् विचारक ने ऋषि-मन्तव्यो को हृदयंगम कराने का लेख मे सफल प्रयास किया है। —*सम्पादक*

● ● ●

नवम

•

विद्यां च ऽविद्यां च यस्तद्वेदोभय ७ सह ।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते ॥

यजुर्वेद ॥ अ० ४०॥ मन्त्र १४॥

जो मनुष्य विद्या और अविद्या के स्वरूप को साथ ही साथ जानता है, वह अविद्या अर्थात् कर्मोपासना से मृत्यु को तर के विद्या अर्थात् यथार्थ-ज्ञान से मोक्ष को प्राप्त होता है ।

अविद्या का लक्षण

अनित्याशुचिदु.खानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या ॥

योग द० ॥ साधन पाद ॥सूत्र ५॥

जो अनित्य संसार और देहादि मे नित्य अर्थात् जो कार्य जगत् देखा सुना जाता है, सदा रहेगा, सदा से है और योग बल से यही देवो का शरीर सदा रहता है—वैसी विपरीत बुद्धि होना अविद्या का प्रथम भाग है, अशुचि अर्थात् मलमय स्त्र्यादि के और मिथ्याभाषण चोरी आदि अपवित्र मे पवित्रबुद्धि दूसरा, अत्यन्त विषय सेवन रूप दु.ख में सुखबुद्धि आदि तीसरा, अनात्मा मे आत्मबुद्धि करना अविद्या का चौथा भाग है, यह चार प्रकार का विपरीत ज्ञान अविद्या कहाती है । इसके विपरीत अर्थात् अनित्य मे अनित्य और नित्य मे नित्य, अपवित्र मे अपवित्र और पवित्र मे पवित्र, दु.ख मे दुःख, सुख में सुख

अनात्मा मे अनात्मा और आत्मा मे आत्मा का ज्ञान होना विद्या है। अर्थात् "वेत्ति यथावत्तत्त्वपदार्थस्वरूप यया सा विद्या, यया तत्त्वस्वरूप न जानाति अमादन्यस्मिन्नन्यन्निश्चिनोति यया सा ऽविद्या" जिससे पदार्थ का यथार्थ स्वरूप बोध होवे वह विद्या और जिससे तत्त्वस्वरूप न जान पडे अन्य मे अन्य बुद्धि होवे वह अविद्या कहाती है अर्थात् कर्म-उपासना अविद्या इसलिए है कि वह बाह्य और आन्तर क्रिया विशेष है ज्ञान विशेष नही, इसी से मन्त्र मे कहा है कि विना शुद्ध कर्म और परमेश्वर की उपासना के मृत्यु दुःख से पार कोई नही होता अर्थात् पवित्र कर्म पवित्रोपासना और पवित्र ज्ञान ही से मुक्ति और अपवित्र मिथ्या भाषणादि कर्म पाषाणमूर्त्यादि की उपासना और मिथ्या ज्ञान से बन्ध होता है। कोई भी मनुष्य क्षण मात्र भी कर्म उपासना और ज्ञान से रहित नही होता इसलिए धर्मयुक्त सत्यभाषणादि कर्म करना और मिथ्याभाषणादि अधर्म को छोड़ देना ही मुक्ति का साधन है।

अधर्म अज्ञान मे बद्ध हुए जीव की मुक्ति नही होती। जीव के बन्ध और मोक्ष स्वभाव से नही होते किन्तु निमित्त से होते है। स्वभाव से होते तो बन्ध और मुक्ति की निवृत्ति कभी नही होती। जीव और ब्रह्म स्वरूप से एक नही हैं। नवीनवेदान्तियो का यह कहना सत्य नही कि जीव ब्रह्मस्वरूप होने से परमार्थ मे बद्ध नही तो मुक्ति क्या ? जीव का स्वरूप अल्प होने से आवरण मे आता, शरीर के साथ प्रकट होने रूप जन्म लेता, पापरूप कर्मों के फल भोग रूप बन्धन मे फँसता, उसके छुडाने का साधन करता, दुःख से छुटने की इच्छा करता और दुःखो से छूट कर परमानन्द परमेश्वर को प्राप्त हो कर मुक्ति को भी भोगता है। यह कहना मिथ्या हैं कि जीव तो पाप-पुण्य रहित साक्षी मात्र है और शीतोष्णादि शरीरादि के धर्म है, और आत्मा निर्लेप है, अपितु सत्य यह है कि देह और अन्तःकरण जड है उनको शीतोष्ण प्राप्ति और भोग नही है। जो चेतन मनुष्यादि प्राणी उसको स्पर्श करता है उसी को शीत उष्ण का भान और भोग होता है, वैसे ही प्राण भी जड हैं न उनको भूख न पिपासा किन्तु प्राण वाले जीव को क्षुधा तृपा लगती है, वैसे ही मन भी जड है न उसको हर्ष न शोक हो सकता है किन्तु मन से हर्ष शोक सुख दुःख का भोग जीव करता है। जैसे बहिष्करण श्रोत्रादि इन्द्रियो से अच्छे बुरे शब्दादि विषयो का ग्रहण करके जीव

सुखी दु:खी होता है, वैसे ही अन्त:करण अर्थात् मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार से सकल्प—विकल्प, निश्चय, स्मरण अभिमान का करने वाला दण्ड और मान्य का भागी होता है, जैसे तलवार से मारने वाला दण्डनीय होता है तलवार नहीं होती वैसे ही देहेन्द्रिय अन्त:करण और प्राणरूप साधनो से अच्छे बुरे कर्मों का कर्त्ता जीव सुख दु:ख का भोक्ता है। कर्मो का साक्षी तो एक अद्वितीय परमात्मा है। जो कर्म करने वाला जीव है वही कर्मों मे लिप्त होता है, वह जीव है वह ईश्वर नही है। इस लिए जीव साक्षी नही है।

नवीनवेदान्तियो का कहना सत्य नही कि—(१) "ब्रह्म ही एक चेतन तत्त्व है, जीव की पृथक् स्वतन्त्र चेतन सत्ता नही। (२) अन्त.करणावच्छिन्न उपाधि के कारण ब्रह्म ही जीव कहलाता है। (३) ब्रह्म का प्रतिबिम्ब अन्त:-करण मे पड कर जीव संज्ञा हो जाती है। (४) अध्यारोप=अन्य वस्तु मे अन्य वस्तु को आरोप करके जिज्ञासु को बोध कराना होता। वास्तव मे सब ब्रह्म ही है।" उपर्युक्त चारो बाते मिथ्या है, क्योकि (१) ब्रह्म से जीव की स्वतंत्र सत्ता है, दोनो के धर्मों में भेद हैं। ब्रह्म सर्वव्यापक, सर्वज्ञ, सर्वान्तर्यामी और सत्यसंकल्प आदि गुणो वाला है परन्तु जीव इससे विपरीत एकदेशी, परिच्छिन्न, अल्पज्ञ और अच्छे बुरे गुणो का धारण और कर्मों का करने वाला है। (२) अन्त करणावच्छिन्न ब्रह्म जीव नही हो सकता। सत्यसंकल्प सर्वव्यापक अन्त:-करण मे क्यो बद्ध होवे–कोई कारण नही। (३) ब्रह्म का प्रतिबिम्ब हो ही नही सकता। प्रतिबिम्ब साकार वस्तु का साकार वस्तु मे होता है। ब्रह्म निराकार है तब उस का प्रतिबिम्ब नही हो सकता, जैसा कि आकाश का प्रतिबिम्ब नही। अज्ञान से लोग जल मे आकाश का प्रतिबिम्ब समझते हैं जो कि नीला-नीला दीखता है। यह आकाश का प्रतिबिम्ब नही किन्तु आकाश मे पृथ्वी और जल के कणो का प्रतिबिम्ब है। (४) अध्यारोप करने वाला जीव जब नवीनवेदान्तियो के मत मे ब्रह्म ही है, ब्रह्म ने ब्रह्म मे ही आरोप करके मिथ्या कल्पना क्यो करली? यह कितना अनर्थ है। चले तो जीव को ब्रह्म बनाने, यहाँ ब्रह्म का स्वरूप ही बिगाड डाला। इस प्रकार के दोष ब्रह्म के नही हैं। मिथ्या सकल्प करने वाले जीवो के है।, जो कि अपने को ब्रह्म माने बैठे है। जीव का ब्रह्म मानना मिथ्या है। जो सर्वव्यापक है वह परिच्छिन्न अज्ञान और

बन्ध मे कभी नही गिरता, क्योकि अज्ञान परिच्छिन्न एकदेशी अल्प अल्पज्ञ जीव होता है सर्वज्ञ ब्रह्म नही।

मुक्ति और बन्ध

"मुञ्चन्ति पृथग्भवन्ति जना यस्यां सा मुक्तिः" जिसमे छूट जाना हो उस को मुक्ति कहते है। जीव इच्छा पूर्वक दुःख से छूट कर सुख को प्राप्त होते हैं और ब्रह्म मे रहते है।

परमेश्वर की आज्ञा पालने, अधर्म—अविद्या—कुसङ्ग—कुसस्कार-बुरे व्यसनो से अलग रहने और सत्यभाषण, परोपकार, विद्या, पक्षपात रहित, न्याय धर्म की वृद्धि करने, परमेश्वर की स्तुति प्रार्थना उपासना अर्थात् योगाभ्यास करने, विद्या पढने, पढाने और धर्म से पुरुषार्थ कर ज्ञान की उन्नति करने, सबसे उत्तम साधनो को करने और जो कुछ करे वह सब पक्षपात रहित न्याय धर्मानुसार ही करे इत्यादि साधनो से मुक्ति और इनसे विपरीत ईश्वराज्ञा भग करने आदि काम से बन्ध होता है।

मुक्ति मे जीव ब्रह्म मे रहता है अव्याहतगति अर्थात् उसको कही रुकावट नही, विज्ञान आनन्दपूर्वक स्वतन्त्र विचरता है। मुक्ति मे जीव का स्थूल शरीर न होने पर भी उसके सत्य सकल्पादि स्वाभाविक गुण सामर्थ्य सब बने रहते है, भौतिक सग नही रहता। जैसे—

शृण्वन् श्रोत्रं भवति, स्पर्शयन् त्वग्भवति, पश्यन् चक्षुर्भवति, रसयन् रसना भवति, जिघ्रन् घ्राणं भवति, मन्वानो मनोभवति, बोधयन् बुद्धिर्भवति, चेतयंश्चित्त भवति, अहङ्कुर्वाणोऽहंकारो भवति ॥—शतपथ-काण्ड १४ ॥

मोक्ष मे भौतिक शरीर वा इन्द्रियो के गोलक जीवात्मा के साथ नही रहते किन्तु अपने स्वाभाविक शुद्ध गुण रहते हैं—जब सुनना चाहता है तब श्रोत्र, स्पर्श करना चाहता है तब त्वचा, देखने के सङ्कल्प से चक्षु, स्वाद के अर्थ रसना, गन्ध के लिए घ्राण, सकल्पविकल्प करते समय मन, निश्चय करने के लिए बुद्धि, स्मरण करने के लिए चित्त और अहङ्कार के अर्थ अहङ्कार रूप अपनी स्वशक्ति से जीवात्मा मुक्ति मे हो जाता है और सङ्कल्प मात्र शरीर होता है। जैसे शरीर के आधार रह कर इन्द्रियो के गोलक के द्वारा जीव स्वकार्य करता है वैसे अपनी शक्ति से मुक्ति मे सब आनन्द भोग लेता है।

जीव की शक्ति मुख्य एक प्रकार की है, परन्तु बल, पराक्रम, आकर्षण, प्रेरणा, गति, भीषण, विवेचन, क्रिया, उत्साह, स्मरण, निश्चय, इच्छा, प्रेम, द्वेष, सयोग, विभाग, सयोजक, विभाजक, श्रवण, स्पर्शन, दर्शन, स्वादन और गन्ध ग्रहण तथा ज्ञान इन चौबीस प्रकार के सामर्थ्ययुक्त जीव है। इससे मुक्ति मे भी आनन्द की प्राप्ति भोग करता है। मुक्ति मे जीव का ब्रह्म मे लय अथवा नाश नही होता अन्यथा मुक्ति का आनन्द कौन भोगता ? मुक्ति जीव की यही है कि दुःखो से छूट कर आनन्द स्वरूप सर्वव्यापक अनन्त परमेश्वर मे जीव का आनन्द मे रहना।

१—अभावं वादरिराह ह्येवम् ॥ वेदान्त ४-४-१० ॥

२—भावं जैमिनि र्विकल्पामननात् ॥ वेदान्त ४-४११ ॥

३—द्वादशाहवदुभयविधं वादरायणोऽतः ॥ वेदान्त ४-४-१२

इन वेदान्त शारीरक सूत्रो मे १—व्यास जी के पिता वादरि मुक्ति मे जीव का और उसके साथ मन का भाव मानते है अर्थात् जीव और मन का लय पराशर जी नही मानते। २—जैमिनि आचार्य मुक्त पुरुष का मन के समान सूक्ष्म शरीर, इन्द्रियो और प्राणादि को भी विद्यमान मानते है अभाव नही। ३—व्यास मुक्ति मे भाव और अभाव इन दोनो को मानते हैं अर्थात् शुद्ध सामर्थ्ययुक्त जीव मुक्ति मे बना रहता है। अपवित्रता पापाचरण, दु ख अज्ञानादि का अभाव मानते हैं।

यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह।
बुद्धिश्च न विचेष्टते तामाहु. परमां गतिम् ॥

कठोपनिषद् अ० २।व० ६। मं०१॥

जब शुद्ध मन युक्त पाँच ज्ञानेन्द्रिया जीव के साथ रहती हैं, बुद्धि का निश्चय स्थिर होता है उसको परमगति अर्थात् मोक्ष कहते हैं।

य आत्मा अपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोकोऽविजिघत्सो ऽ पिपास. सत्यकाम सत्यसङ्कल्प: सोऽन्वेष्टव्य. स विजिज्ञासितव्य: सर्वांश्च लोकानाप्नोति सर्वांश्च कामान् यस्तमात्मानमनुविद्य विजानातीति ॥

छान्दो० प्र० ८खं० १२ मं० ५-६

स वा एष एतेन दैवेन चक्षुषा मनसैतान् कामान् पश्यन् रमते ।। य एते ब्रह्मलोके त वा एतं देवा आत्मानमुपासते तस्मात्तेषां सर्वे च लोका आत्ता: सर्वे च कामा: सर्वांश्च लोकानाप्नोति सर्वांश्च कामान्यस्तमात्मानमनुविद्य विजानातीति ।।छान्दो० प्र० ८।खं० १२।मं० ५-६

मघवन्मर्त्यं वा इदं शरीरमात्तं मृत्युना तदस्याऽमृतस्याशरीरस्यात्मनोऽधिष्ठानमात्तो वै सशरीर: प्रियाप्रियाभ्यां न वै सशरीरस्य सत: प्रियाप्रिययोरपहतिरस्त्यशरीर वाव सन्त न प्रियाप्रिये स्पृशत: ।।
छान्दो० प्र० ८। खं १२। मं० १।।

जो परमात्मा अपहतपाप्मा सर्वपाप—जरा—मृत्यु—शोक—क्षुधा—पिपासा से रहित सत्यकाम सत्य सकल्प है उसकी खोज और उसी को जानने की इच्छा करनी चाहिये, जिस परमात्मा के सम्बन्ध से मुक्त जीव सब लोकों और सब कामो को प्राप्त होता है ।

जो परमात्मा को जान के मोक्ष के साधन और अपने को शुद्ध करना जानता है सो यह मुक्ति को प्राप्त जीव शुद्ध दिव्यनेत्र और शुद्ध मन से सब कामों को देखता प्राप्त होता हुआ रमण करता है । जो ये ब्रह्मलोक अर्थात् दर्शनीय परमात्मा मे स्थित होके मोक्ष सुख को भोगते हैं और इसी परमात्मा को जो कि सबका अन्तर्यामी आत्मा है उसकी उपासना मुक्ति को प्राप्त करने वाले विद्वान् लोग करते हैं इससे उनको सब लोक और सब काम प्राप्त होते हैं अर्थात् जो जो सकल्प करते है वह वह लोक और वह वह काम प्राप्त होता है और वे मुक्त जीव स्थूल शरीर को छोड कर संकल्पमय शरीर से आकाश मे परमेश्वर मे विचरते है । क्योकि जो शरीर वाले होते है वे सासारिक दु ख से रहित नही हो सकते ।

जैसे इन्द्र से प्रजापति ने कहा है कि हे पूजित धन युक्त पुरुष ! यह स्थूल शरीर मरणधर्मा है और जैसे सिंह के मुख मे बकरी होवे वैसे यह शरीर मृत्यु के मुख के बीच है सो शरीर इस मरण और शरीर रहित जीवात्मा का निवास स्थान है इसलिए यह जीव सुख और दु ख से सदा ग्रस्त रहता है, क्योकि शरीर सहित जीवो की सांसारिक प्रसन्नता की निवृत्ति होती ही है और जो शरीर रहित मुक्त जीवात्मा ब्रह्म मे रहता है उसको सांसारिक सुख दु.ख का स्पर्श भी नही होता किन्तु सदा आनन्द मे रहता हैं ।

१ न च पुनरावर्त्तते न च पुनरावर्त्तत इति ।। छान्दो० प्र०८।खं० १५ ।।

२. अनावृत्तिः शब्दादनावृत्ति. शब्दात् ।। वेदान्त द०।४।४।१३

३ यद् गत्वा न निवर्त्तन्ते तद्धाम परम मम ।। भगवद् गीता ।।

इन उपर्युक्त तीन वचनो से विदित होता है कि मुक्ति वही है कि जिससे निवृत्त होकर पुन ससार में कभी नही आता—तो यह बात ठीक नही है क्योंकि वेद मे इस बात का निपेध किया है—

कस्य नूनं कतमस्यामृतानां मनामहे चारु देवस्य नाम। को नो मह्या अदितये पुनर्दात् पितरं च दृशेयं मातरं च ।।

२ अग्नेर्वयं प्रथमस्यामृतानां मनामहे चारु देवस्य नाम। स नो मह्या अदितये पुनर्दात् पितरं च दृशेयं मातरं च ।। ऋग्वेद० मं १।सूक्त २४ म १-२

१ हम लोग किस का नाम पवित्र जाने ? कौन नाश-रहित पदार्थो के मध्य में वर्त्तमान देव सदा प्रकाश स्वरूप है, हम को मुक्ति का सुख भुगा कर पुनः इस ससार मे जन्म देता और माता पिता का दर्शन कराता है ? (२) हम इस स्वप्रकाशस्वरूप अनादि सदा मुक्त परमात्मा का नाम पवित्र जाने जो हमको मुक्ति मे आनन्द भुगाकर पृथिवी मे पुनः माता पिता के सम्बन्ध मे जन्म देकर माता पिता का दर्शन कराता है, वही परमात्मा मुक्ति की व्यवस्था करता सब का स्वामी है । ३ ।।

इदानीमिव सर्वत्र नात्यन्तोच्छेदः ।। सांख्य अ० १ सू० १५६ ।।

जैसे इस समय बन्ध मुक्त जीव हैं वैसे ही सर्वदा रहते हैं । अत्यन्त उच्छेद बन्ध मुक्ति का कभी नही होता किन्तु बन्ध और मुक्ति सदा नही रहती ।

तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्ग ।।१।। न्याय द० १।१।२२

दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः ।।२।।
न्याय द० १। १ ।।२।।

जो दु.ख का अत्यन्त विच्छेद होता है वही मुक्ति कहाती है क्योकि जब मिथ्याज्ञान अविद्या, लोभादिदोष, विषय, दुष्टव्यसनो मे प्रवृत्ति, जन्म और दु ख का उत्तर उत्तर के छूटने के पूर्व पूर्व के निवृत्त होने ही से मोक्ष होता है । यहाँ अत्यन्त शब्द का अर्थ अत्यन्ताभाव नही है किन्तु अत्यन्त का अर्थ बहुत है,

जैसे "अत्यन्तं दुःखमत्यन्तं सुख चास्य वर्त्तते" वहुत दु'ख और वहुत सुख इस मनुष्य को है। इसी प्रकार यहाँ भी अत्यन्त शब्द का अर्थ जानना चाहिये। अत: दु.ख का अत्यन्त विच्छेद सदा वना नही रहता।

ते ब्रह्मलोकेषु परान्तकाले परामृताः परिमुच्यन्ति सर्वे ॥

मुण्डक ३।खं० २।म० ६।।

जो मुक्त जीव मुक्ति मे प्राप्त होके ब्रह्म मे आनन्द को तव तक भोग के पुनः महा कल्प के पश्चात् मुक्ति सुख को छोड़ के संसार में आते हैं। इस की सख्या यह है कि चार लाख वत्तीस सहस्र वर्ष का कलियुग, आठ लाख चौसठ सहस्र वर्ष का द्वापर, वारह लाख छियानवे सहस्र वर्ष का त्रेता और सतरह लाख अठाईस सहस्र वर्ष का कृतयुग होता है। चारो को मिला कर एक चतुयु'गी होती है अर्थात् त्रितालीस लाख वीस सहस्र वर्षों की। ऐसी दो सहस्र चतुर्यु'गियो का एक आहोरात्र, ऐसे तीस अहोरात्रो का एक महीना, ऐसे वारह महीनो का एक वर्ष, ऐसे शत वर्षों का एक परान्तकाल होता है। दूसरा प्रकार यह है कि उपर्यु'क्त एक सहस्र चतुर्यु'गी की सृष्टि आयु और एक सहस्र चतुर्यु'गी का प्रलय काल। सृष्टि को "अह.' दिन और प्रलय को रात्रि कहा गया है। इस प्रकार सृष्टि और प्रलय का काल एक अहोरात्र हुआ। ऐसे सौ वर्ष = (३६००० छत्तीस सहस्र अहोरात्रो) का एक परान्त काल होता है। इतना समय मुक्ति मे सुख भोगने का है।

मुक्ति से पुन. ससार मे आना ही पडता है, क्योकि प्रथम तो जीव का सामर्थ्य शरीरादि पदार्थ और साधन परिमित हैं—इनका फल अनन्त नही हो सकता और मुक्ति से लौट कर संसार मे न आवे तो एक समय ससार का विच्छेद हो जाय। यदि यह मानें कि परमात्मा नये जीवो को पैदा करता है तो जीव अनित्य हो जाते हैं, तब उनका नाश भी मानना पडेगा। ऐसी दशा में मुक्ति का सुख कौन भोगे ? और मुक्ति मे जाते रहे, लौटें नही तो मुक्ति मे भीड़ भडक्का हो जावे। इसके अतिरिक्त सुख दुःख सापेक्ष पदार्थ है। यदि दु ख की सत्ता न हो तो सुख का भान भी कुछ नही हो सकता। कटु रस न होवे तो मधुर क्या कहावे और मधुर रस न होवें तो कटु क्या कहावे ? क्योकि एक स्वाद के एक रस के विरुद्ध होने से दोनो की परीक्षा होती है। ईश्वर अन्त वाले कर्मों का

फल अनन्त देवे तो न्याय नष्ट हो जाय । नये नये जीवो को उत्पन्न जिस कोष से परमात्मा करे और उस कोष मे आय न होवे तो कभी न कभी वह कोष रिक्त हो ही जावेगा । अतः मुक्ति मे जाना और वहाँ से लौटना यही व्यवस्था ठीक है । ब्रह्म मे लय हो जाना तो समुद्र मे डूब मरना है ।

जीव मुक्त होकर भी शुद्ध स्वरूप, अल्पज्ञ और परिमित गुण कर्म स्वभाव वाला होता है । परमेश्वर के सदृश कभी नही । मुक्ति जन्म मरण के सदृश नही अपितु अत्यन्त दीर्घ समय के लिए दु:खो से छूटकर सुख मे रहना साधारण बात नही । प्रतिदिन हमे भूख लगती है, उसको हटाने के लिए भोजन करते हैं तब मुक्ति के लिए यत्न करना तो अत्यावश्यक है ।

मुक्ति के कुछ साधन तो विद्या-अविद्या के प्रकरण मे कहे गये हैं, परन्तु विशेष उपाय ये हैं—(१) साधन जो मुक्ति चाहे वह जीवनमुक्त अर्थात् जिन मिथ्या भाषणादि पाप कर्मो का फल दु:ख हैं उनको छोड़ सुखरूप फल को देने वाले सत्यभाषणादि धर्माचरण अवश्य करे । अधर्म को छोड धर्म अवश्य करें । क्योकि दु:ख का पापाचरण और सुख का धर्माचरण मूल कारण है ।

सत्पुरुषो के सग से विवेक अर्थात् सत्यासत्य, धर्माधर्म, कर्तव्याकर्तव्य का निश्चय अवश्य करे ।

पच कोषो का विवेचन करें । पच कोष ये हैं—

(१) अन्नमय—त्वचा से लेकर अस्थिपर्यन्त का समुदाय पृथिवीमय है ।

(२) प्राणमय—जिस मे प्राण, अपान, समान, व्यान और उदान पाँचो प्राणो हैं ।

(३) मनोमय—इसमे मन के साथ अहकार और पाच कर्मेन्द्रिया हैं ।

(४) विज्ञानमय—इसमे बुद्धि, चित्त और पाच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं ।

(५) (आनन्दमय)—इसमे प्रीति, प्रसन्नता, न्यून आनन्द, अधिक आनन्द और आधार कारण रूप प्रकृति है । इन पाचो कोषों से जीव सब प्रकार के कर्म उपासना और ज्ञानादि व्यवहारो को करता है ।

तीन अवस्था—(१) जागृत, दूसरी स्वप्न और तीसरी सुषुप्ति है ।

तीन शरीर—(१) स्थूल जो दीखता है । (२) पाच प्राण, पाच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच सूक्ष्म भूत और मन तथा बुद्धि इन सत्तरह तत्त्वो का समुदाय सूक्ष्म शरीर

कहाता है। यह सूक्ष्म शरीर जन्ममरणादि मे भी जीव के साथ रहता है। इसके दो भेद हैं—भौतिक अर्थात् जो सूक्ष्म भूतो के अंशो से बना है और (२) अभौतिक जीव के स्वाभाविक गुण रूप है। यह दूसरा स्वाभाविक शरीर मुक्ति मे भी साथ रहता है। इसी से जीव मुक्ति मे सुख को भोगता है। (३) तीसरा कारण शरीर जिस मे सुषुप्ति अर्थात् गाढ़निद्रा होती है। यह प्रकृति रूप होने से सर्वत्र विभु और सब जीवो के लिये एक समान हैं। (४) तुरीय शरीर वह कहाता है जिसमे समाधि से परमात्मा के आनन्द स्वरूप मे मग्न जीव होते हैं, इसी समाधि सस्कार जन्य शुद्ध शरीर का पराक्रम मुक्ति मे भी यथावत् सहायक रहता है। इन सब कोष अवस्थाओं से जीव पृथक् है। यही जीव सब का प्रेरक सब का धर्त्ता, साक्षी, कर्त्ता, भोक्ता कहाता है। बिना जीव के ये सब जड़ पदार्थ है।

जब इन्द्रिया अर्थों मे मन इन्द्रियो और आत्मा मन के साथ संयुक्त हो कर प्राणो को प्रेरणा करके अच्छे वा बुरे कर्मों मे लगाता है। तभी वह बहिर्मुख हो जाता है। उसी समय भीतर से आनन्द, उत्साह, निर्भयता और बुरे कर्मो मे भय, शङ्का, लज्जा उत्पन्न होती है वह अन्तर्यामी परमात्मा की शिक्षा है, जो कोई इस शिक्षा के अनुकूल वर्त्तता है वही मुक्ति जन्य सुखो को प्राप्त होता है और जो विपरीत वर्त्तता है वह बन्धजन्य दुःख भोगता है।

(२) दूसरा साधन—वैराग्य है। विवेक से सत्याचरण का ग्रहण और असत्याचरण का त्याग करना।

(३) तीसरा साधन-षट्क सम्पत्ति है अर्थात् शम, दम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा और समाधान (चित्त की एकाग्रता) ये ६ मिलकर तीसरा साधन कहाता है।

४–चौथा साधन—अधिकारी, सम्बन्ध, विषयी और प्रयोजन ये चार अनुबन्ध मिलकर चौथा साधन कहाता है।

५–इनके पश्चात् पाचवा साधन—श्रवण, मनन, निदिध्यासन और साक्षात्कार-ये श्रवण चतुष्टय पाँचवाँ साधन है।

सदा तमोगुण और रजोगुण से पृथक् रहकर सत्य अर्थात् शान्त-प्रकृति, पवित्रता, विद्या और विचारादि गुणो को धारण करे। मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा इनका यथायोग्य व्यवहार करे। नित्य प्रति न्यून से न्यून दो घण्टा

पर्यन्त मुमुक्षु ध्यान अवश्य करे। जिससे भीतर के मन आदि पदार्थों का साक्षात्कार होवे।

अविद्या ऽस्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पंच क्लेशाः ॥योग द०। पाद २। सूत्र ३॥

इन पाच क्लेशो को योगाभ्यास विज्ञान से छुड़ा के ब्रह्म को प्राप्त होके मुक्ति के परमानन्द को भोगना चाहिए।

भिन्न-भिन्न सम्प्रदाय भिन्न प्रकार की मुक्तियां मानते हैं। जैसे मोक्ष शिला, शिवपुर, चौथा आसमान, सातवां आसमान, श्रीपुर, कैलाश, वैकुण्ठ, गोलोक, सालोक्य, सानुज्य, सारूप्य और सायुज्य। ये मुक्तियां नही किन्तु एक प्रकार का बन्धन हैं, क्योकि ये लोग स्थान विशेष में मुक्ति मानते है, वहा से छूट जावें, तो मुक्ति छूट गई।

मुक्ति तो यही है, जहाँ इच्छा हो वहाँ विचरे, कही अटके नही। न भय, न शङ्का, न दु ख होता है।

जन्म एक नही, अनेक होते हैं, परन्तु पूर्वजन्म की बातो का स्मरण नही होता, क्योकि जीव अल्पज्ञ है, त्रिकालदर्शी नही। इसलिये स्मरण नही रहता। जीव का ज्ञान और स्वरूप अल्प है. अत. पूर्व और आगे के जन्म के वर्तमान को जानना चाहे तो भी नही जान सकता। यह बात ईश्वर के जानने योग्य है जीव के नही। ससार मे राज, धन, बुद्धि, विद्या, दारिद्रय, निर्बुद्धि, मूर्खता, सुख, दु:ख देखकर प्रत्यक्षादि प्रमाणो से पूर्व जन्म का ज्ञान होता है। जैसे एक वैद्य और अवैद्य को रोग होवे तो वैद्य रोग का कारण जान लेता है। अवैद्य नही जान सकता, क्योकि उसने वैद्यक विद्या नही पढी। हा ज्वरादि रोग के होने से अवैद्य भी यह जान लेता है कि मुझ से कोई कुपथ हो गया है। वैसे ही जगत् मे विचित्र सुख दु.ख आदि की घटती-बढती देख के पूर्वजन्म का अनुमान हो सकता है। पूर्वजन्म की व्यवस्था के अभाव मे परमेश्वर पक्षपाती हो जावे, क्योकि विना पाप के दारिद्रय आदि दु ख और विना पूर्व सञ्चित पुण्य के राज्य, धनाढ्यता और निर्बुद्धिता क्यो दी ? परमात्मा न्यायकारी है। परमात्मा जीवो के कर्मानुसार ही फल और फल के प्रमुख साधन देता है। जीवो को विना पाप पुण्य के सुख दु.ख देने से परमेश्वर पर दोष आता है। विना कर्म फल की न्याय व्यवस्था से सब जीव अधर्म युक्त हो जावे और धर्म क्यों करे ?

इसलिए पूर्वजन्म के पाप पुण्य के अनुसार वर्त्तमान जन्म और वर्त्तमान तथा पूर्वजन्म के अनुसार भविष्यत् जन्म होते हैं। सब जीव स्वरूप से एक समान हैं, परन्तु पाप पुण्य के योग से मलिन और पवित्र होते हैं। मनुष्य का जीव पश्वादि मे और पश्वादि का मनुष्य के शरीर मे और स्त्री का पुरुष के और पुरुष का स्त्री के शरीर में जाता आता है। जब पाप बढ जाता पुण्य न्यून होता है तब मनुष्य का जीव पश्वादि नीच शरीर और जब धर्म अधिक तथा अधर्म न्यून होता है तब देव अर्थात् विद्वानो का शरीर मिलता है। जब पुण्य पाप बराबर होता है तब साधारण मनुष्य का जन्म होता है। इसमे भी पुण्य पाप के उत्तम मध्यम निकृष्ट होने से मनुष्यादि मे भी उत्तम मध्यम निकृष्ट शरीरादि सामग्री वाले होते है और जब अधिक पाप का फल पश्वादि शरीर मे भोग लिया है पुन. पाप पुण्य के तुल्य रहने से मनुष्य शरीर मे आता और पुण्य के फल भोगकर फिर भी मध्यस्थ मनुष्य के शरीर मे आता है।

जब शरीर से निकलता है, उसीका नाम "मृत्यु" और शरीर के साथ सयोग होने का नाम 'जन्म" है। जब शरीर छोड़ता है तब यमालय अर्थात् आकाशस्थ वायु मे रहता है। पश्चात् परमेश्वर उस जीव के पाप पुण्यानुसार जन्म देता है। वह वायु, अन्न, जल अथवा शरीर के छिद्र द्वारा दूसरे के शरीर में ईश्वर की प्रेरणा से प्रविष्ट होता है। जो प्रविष्ट होकर क्रमश. वीर्य मे जा, गर्भ मे स्थित हो, शरीर धारण कर बाहर आता है। जो स्त्री के शरीर धारण करने योग्य कर्म हो तो स्त्री और पुरुष के शरीर धारण करने योग्य कर्म हो तो पुरुष शरीर मे प्रवेश करता है और नपुंसक गर्भ स्थिति के समय स्त्री पुरुष के शरीर से सम्बन्ध करके रजवीर्य के बराबर होने से होता है। इसी प्रकार नाना प्रकार के जन्म मरण मे तब तक जीव पड़ा रहता है जब तक उत्तम कर्मोपासना ज्ञान को करके मुक्ति को नही पाता, क्योकि उत्तम कर्मादि करने मे मनुष्यो मे उत्तम जन्म और मुक्ति मे महाकल्प पर्यन्त जन्म मरण दुखो से रहित होकर आनन्द मे रहता है।

मुक्ति अनेक जन्मो मे होती है क्योकि—

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे॥
मुण्डक २। खं० २। मं० ८॥

जब इस जीव के हृदय की अविद्या अज्ञान रूपी गाँठ कट जाती, सब संशय छिन्न होते और दुष्ट कर्म क्षय को प्राप्त होते है तभी उस परमात्मा जो कि अपने आत्मा के भीतर और बाहर व्याप रहा है उसमे निवास करता है। मुक्ति मे जीव की पृथक् सत्ता रहती है, जो परमेश्वर में मिल जाय तो मुक्ति का सुख कौन भोगे और मुक्ति के सब साधन निष्फल हो जाये। वह तो मुक्ति नही किन्तु जीव का प्रलय समझना चाहिये। जब जीव परमेश्वर की आज्ञा पालन उत्तम कर्म सत्सग योगाभ्यास पूर्वोक्त सब साधन करता है वही मुक्ति को पाता है।

> सत्यं ज्ञानमनन्त ब्रह्म यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन्
> सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चितेति।
>
> तैत्तिरी० ब्रह्मानन्द वल्ली। अनु० १

जो जीवात्मा अपनी बुद्धि और आत्मा मे स्थित सत्य ज्ञान और अनन्त आनन्द स्वरूप परमात्मा को जानता है वह उस व्यापक ब्रह्म मे स्थित हो के उस "विपश्चित" अनन्त विद्या युक्त ब्रह्म के साथ सब कामो को प्राप्त होता है यही मुक्ति कहाती है।

जैसे सांसारिक सुख शरीर के आधार से भोगता है, वैसे परमेश्वर के आधार मुक्ति के आनन्द को जीवात्मा भोगता है। वह मुक्त जीव अनन्त व्यापक ब्रह्म मे स्वच्छन्द घूमता, शुद्ध ज्ञान से सब सृष्टि को देखता, अन्य मुक्तो के साथ मिलता, सृष्टि विद्या को क्रम से देखता हुआ सब लोक-लोकान्तरो में अर्थात् जितने लोक ये दीखते है और नही दीखते उन सब मे घूमता है। वह सब पदार्थों को जो उसके ज्ञान के आगे हैं देखता है। जितना ज्ञान अधिक होता है उसको उतना ही आनन्द अधिक होता है। मुक्ति में जीवात्मा निर्मल होने से पूर्ण ज्ञानी होकर उस को सब सन्निहित पदार्थों का भान यथावत् होता है। यही सुख विशेष स्वर्ग और विषय तृष्णा मे फँसकर दु:ख विशेष भोग करना नरक कहाता है। "स्व:" सुख का नाम है "स्व: सुख गच्छति यस्मिन् स स्वर्ग:" "अतो विपरीतो दु:खभोगो नरक इति" जो सांसारिक सुख है वह सामान्य स्वर्ग और जो परमेश्वर की प्राप्ति से आनन्द है वही विशेष स्वर्ग कहाता है। उससे विपरीत दु:ख भोग को नरक कहा जाता है। सब जीव स्वभाव से सुख-प्राप्ति की इच्छा और दु:ख का वियोग होना

चाहते हैं, परन्तु जब तक धम नहीं करते और पाप नहीं छोड़ते तब तक उनको सुख का मिलना और दुःख का छूटना न होगा, क्योंकि जिसका कारण अर्थात् मूल होता है, वह नष्ट कभी नहीं होता। जैसे—

छिन्ने मूले वृक्षो नश्यति तथा पापे क्षीणे दुःखं नश्यति।

जैसे मूल कट जाने से वृक्ष नष्ट होता है, वैसे पाप को छोड़ने से दु.ख नष्ट होता है। देखो मनुस्मृति मे पाप और पुण्य की बहुत प्रकार की गति।

मानसं मनसैवायमुपभुङ्क्ते शुभाशुभम्।
वाचा वाचा कृतं कर्म कायेनैव च कायिकम्॥
शरीरजैः कर्मदोषैर्याति स्थावरतां नरः।
वाचिकै. पक्षिमृगतां मानसैरन्त्यजातिताम्॥२॥
सत्त्वं ज्ञान तमोऽज्ञान रागद्वेषौ रजः स्मृतम्।
एतद् व्याप्तिमदेतेषां सर्वभूताश्रित वपुः॥३॥
वेदाभ्यासस्तपो ज्ञानं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धर्मक्रियात्मचिन्ता च सात्त्विकं गुणलक्षणम्॥४॥
आरम्भरुचिता ऽधैर्यमसत्कार्यपरिग्रह·।
विषयोपसेवा चाजस्रं राजस गुणलक्षणम्॥५॥
लोभ. स्वप्नोऽधृति. क्रौर्यं नास्तिक्य भिन्नवृत्तिता।
याचिष्णुता प्रमादश्च तामस गुणलक्षणम्॥६॥
तमसो लक्षण कामो रजसस्त्वर्थ उच्यते।
सत्त्वस्य लक्षण धर्मः श्रैष्ठ्यमेषां यथोत्तरम्॥७॥
देवत्वं सात्त्विका यान्ति मनुष्यत्वञ्च राजसाः।
तिर्यक्त्वं तामसा नित्यमित्येषा त्रिविधा गति॥८॥

मनुस्मृति—अ० १२। श्लोक ८,९,२६,३१,३२,३३,३८,४०॥

अर्थात् यह जीव मन से जिस शुभ वा अशुभ कर्म को करता है उसको मन, वाणी से किये को वाणी और शरीर से किये को शरीर अर्थात् सुख दु ख को भोगता है॥१॥

जो नर शरीर से चोरी, परस्त्री गमन, श्रेष्ठो को मारने आदि दुष्ट कर्म करता है उसको वृक्षादि स्थावर का जन्म, वाणी से किये पाप कर्मों से पक्षी

और मृगादि तथा मन से किये दुष्ट कर्मों से चाण्डाल आदि का शरीर मिलता है ॥२॥

जब आत्मा में ज्ञान हो तब सत्त्व, जब अज्ञान रहे तब तमः और जब रागद्वेष में आत्मा लगे तब रजोगुण जानना चाहिये। ये तीन प्रकृति के गुण सब संसारस्थ पदार्थों में व्याप्त होकर रहते है ॥३॥

'जो वेदो का अभ्यास. धर्मानुष्ठान, ज्ञान की वृद्धि, पवित्रता की इच्छा, इन्द्रियो का निग्रह, धर्मक्रिया और आत्मा का चिन्तन होता है। यही सत्त्व गुण का लक्षण है ॥४॥

जब रजोगुण का उदय, सत्त्व और तमोगुण का अन्तर्भाव होता है, अब आरम्भ मे रुचिता, धैर्यत्याग, असत्कर्मों का ग्रहण, निरन्तर विषयो को सेवा मे प्रीति होती है तभी समझना कि रजोगुण प्रधानता से मुझे मे वर्त्त रहा है ॥५॥

जब तमोगुण का उदय और अन्य दोनों का अन्तर्भाव होता है तब अत्यन्त लोभ अर्थात् सब पापो का मूल बढता, अत्यन्त आलस्य और निद्रा, धैर्य का नाश, क्रूरता का होना, नास्तिकता। अर्थात् वेद और ईश्वर मे श्रद्धा का न रहना, भिन्न अन्तःकरण की वृत्ति और एकाग्रता का अभाव किन्ही व्यसनो में फंसना होवे तब तमोगुण का लक्षण विद्वान् को जानना चाहिये ॥६॥

तमोगुण का लक्षण काम, रजोगुण का अर्थ सग्रह की इच्छा और सत्त्व-गुण का लक्षण धर्म की सेवा करना है, परन्तु तमोगुण से रजोगुण और रजो-गुण से सत्त्वगुण श्रेष्ठ है ॥७॥

अब जिस जिस गुण से जिस जिस गति को जीव प्राप्त होता है उस उस को आगे लिखते हैं—

जो मनुष्य सात्त्विक हैं वे देव अर्थात् विद्वान्, जो रजोगुणी होते हैं वे मध्यम मनुष्य और जो तमोगुणी होते है वे नीच गति को प्राप्त होते हैं। इन प्रत्येक गुणो की भी उत्तम, मध्यम और अधम तीन तीन प्रकार की गति होती हैं ॥८॥

इस प्रकार सत्त्व, रज और तमोगुण युक्त वेग से जिस-जिस प्रकार जीव कर्म करता है उस उसको उसी-उसी प्रकार फल प्राप्त होता है । 'जो मुक्त होते है

वे गुणातीत अर्थात् सब गुणो के स्वभावो मे न फसकर महायोगी हो के मुक्ति का साधन करें क्योंकि—

योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः ॥१॥

तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् ॥२॥ योगद० पा० १, सूत्र २-३॥

मनुष्य रजोगुण तमोगुण युक्त कर्मों से मन को रोक शुद्ध सत्त्वगुण युक्त कर्मों से भी मन को रोक शुद्धसत्त्वगुण युक्त हो पश्चात् उसका निरोध कर एकाग्र अर्थात् एक परमात्मा और धर्म युक्त कर्म इनके अग्र भाग मे चित्त को ठहरा रखना निरुद्ध अर्थात् सब ओर से मन की वृत्ति को रोकना ॥१॥

जब चित्त एकाग्र और निरुद्ध होता है तब सब के द्रष्टा ईश्वर के स्वरूप मे जीवात्मा की स्थिति होती है ॥२॥

इत्यादि साधन मुक्ति के लिए और करें और—

अथ त्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थः ॥

—सांख्य द० । अ० । १ सूत्र १ ॥

जो आध्यात्मिक अर्थात् शरीर सम्बन्धी पीडा, आधिभौतिक जो दूसरे प्राणियो से दु खित होना, आधिकदैविक जो अतिवृष्टि, अतिताप, अतिशीत, मन इन्द्रियो की चञ्चलता से होता है इस त्रिविध दु.ख को छुडाकर मुक्ति पाना अत्यन्त पुरुषार्थ है ।

टिप्पणियां

१. कर्म का ही आन्तरिक भेद उपासना है। आन्तरिक क्रिया विशेष होने से ज्ञान विशेष नही है। अत' कर्म और उपासना को मन्त्र मे अविद्या शब्द से कहा गया हैं। परन्तु मृत्यु दु.ख से पार करने के लिए कर्म और उपासना अनिवार्य हैं।

२. मुक्ति का साधन केवल ज्ञान, केवल कर्म अथवा केवल उपासना नही है। अपितु शुद्धकर्म, शुद्ध उपासना और शुद्ध ज्ञान तीनों के सहभाव से ही मुक्ति की प्राप्ति होती है। कर्म की अवहेलना नही की जा सकती।

३ मुक्ति मे जीव का संकल्पमय शरीर होता है। इसका यह अभिप्राय नही कि जब सकल्प किया तब ही स्थूल शरीर बना लिया, अपितु संकल्प का करना मन का धर्म है अतः मुक्ति मे जीव का दिव्य मानसिक शरीर होता है। इसी सकल्प के द्वारा जीव मुक्ति के आनन्द को भोगता है।

४. मुक्ति स लौटने के मन्त्रो पर ऋषि दयानन्द ने स्वतः प्रमाण वेदके सम्मुख आर्ष ग्रन्थो की भी वेद विरुद्ध होने से प्रबल शब्दों मे उपेक्षा की है।

५. "न च पुनरावर्त्तते"-(छान्दो०) और "अनावृत्तिः शब्दात्" (वेदान्त द०) की नवीनवेदान्तियो ने मुक्ति से न लौटने के पक्ष मे ढाल ग्रहण की। ऋषि दयानन्द ने "कस्य नून——और अग्नेर्वय ...ऋग्वेद के दो मन्त्रो से इस ढाल का खण्डन कर दिया। इससे एक बहुत बड़ा उपकार यह हुआ कि आर्ष ग्रन्थो मे भी वेद विरुद्ध वचन का त्याग करने का साहस विद्वानो को हुआ। यदि इन उपनिषद् और दर्शन मे आये "आवर्तन" और अनावृत्ति शब्द का नवीनवेदान्ती शुद्ध अर्थ करते तो ऐसे आग्रह की आवश्यकता न होती। "आवर्त्तन" और "आवृत्ति" का अर्थ है अभ्यास, बार बार, चक्र। "आवर्त्तते" के साथ "न" पृथक् है और "आवर्त्तते" से पूर्व सूचक मिला हुआ ही है, अतः "न आवर्त्तते" और "अनावृत्ति" एक ही भाव को कहते हैं। इनका सीधा अर्थ यह है कि मुक्ति प्राप्त होने पर संसार की भान्ति मुक्ति काल मे जन्म-मरण का अभ्यास नही होता। मुक्ति काल मे जन्म-मरण का बार-बार चक्र नही चलता। इसका इतना ही अर्थ है, परन्तु मुक्ति की अवधि समाप्त होने पर इन शब्दो "न आवर्त्तते" और "अनावृत्ति" की गति ही नही यदि नवीनवेदान्ती इस सरल और स्पष्ट अर्थ को लेते तो आर्ष ग्रन्थो के शुद्ध भाव को प्रकट कर देते। मिथ्या अर्थ करने से उनके मिथ्या अर्थ का खण्डन करना आवश्यक था।

६. "अत्यन्त" शब्द का अर्थ ऋषि ने "बहुत" किया यह ठीक है। यह सर्वथा ग्राह्य है। इसी समुल्लास के अन्त मे सांख्य दर्शन के प्रथम सूत्र मे यह बात स्पष्ट है—

"तदत्यन्तदुःखनिवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थः" अर्थात् दु.ख का अत्यन्त छुटकारा अत्यन्त पुरुषार्थ से होता है, यहाँ "पुरुषार्थ" शब्द के साथ आये "अत्यन्त" शब्द का अर्थ सब को "बहुत' ही करना पड़ता है। तब इसी भान्ति "दुःख निवृत्ति" के साथ पड़े हुये "अत्यन्त" शब्द का भी यही अर्थ होता है। मनुष्य का पुरुषार्थ ससीम ही रहता है चाहे जितना बढे, सीमा से बाहर नही जा सकता। इसी प्रकार दु.ख का छुटकारा भी सीमा तक ही होगा। सीमा से अधिक नही। इसीलिये न्याय दर्शन मे "तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः" कहा है अर्थात् दु.ख से

अत्यन्त छुटकारे को मुक्ति कहते हैं । जैसे मोक्ष का अर्थ छुटकारा है वैसे ही "निवृत्ति" का भी है । यदि न्याय दर्शन को यह स्वीकार होता कि मुक्ति के पश्चात् दुःख कभी नही होगा तो "तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः की जगह "तदभावोऽपवर्ग." लिखते । "विमोक्ष" लिखा "अभाव" नही । "विमोक्ष" शब्द ही अपने अर्थ को स्पष्ट करता है । मोक्ष का अर्थ छुटकारा है । यद्यपि सुषुप्ति और समाधि मे भी दुःख से मोक्ष होता है । परन्तु वह थोडी देर मे फिर आ जाता है इसलिए न्याय मे मोक्ष ही नही कहा । और यदि 'विमोक्ष' कहते अर्थात् विशेष छुटकारा, तो प्रलय काल मे विशेष छुटकारा होता है, तो वहाँ लक्षण व्याप्त हो जाता । इस दोष को भी दूर करने के लिये "अत्यन्तविमोक्ष" कहा । अर्थात् ३६ हजार बार सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय का जितना समय है उतने लम्बे काल तक मुक्ति से जीव नही लौटता अर्थात् मुक्ति के इस समय मे दु ख की आवृत्ति नही होती । मनुष्य की आयु का मान १०० वर्ष माना गया है । इसी भान्ति ब्रह्मलोक प्राप्ति की आयु भी १०० वर्ष है । सृष्टि की आयु और प्रलय की आयु ८ अरब ६४ करोड़ वर्ष है । यह ब्रह्मलोक=मोक्ष मे रहने का एक दिन रात्रि है । जैसे १०० वर्ष मे ३६००० दिन रात्रि होते हैं वैसे ही ब्रह्मलोक=मोक्ष मे आनन्द भोगने के भी १०० वर्ष होते हैं । अत मुक्ति के १०० वर्ष सृष्टि और प्रलय के ३६००० गुणित हो गये । यही "अत्यन्त विमोक्ष" है । यही "अनावृत्ति" है । यही "न आवर्त्तते" है । जीव के साधन और सामर्थ्य ससीम हैं तो उन साधनो से उत्पन्न फल भी ससीम रहेगा, असीम नही हो सकता ।

७. जीव को इन्द्रियजन्य ज्ञान एक काल मे अनेक नही हो सकते, क्योकि उनमे मन की सन्निधि आवश्यक है । मन एक समय मे एक ही इन्द्रिय के साथ सयुक्त हो सकता है । परन्तु जीव को केवल मानस ज्ञान मे यह बन्धन नही । तब जीव एक काल मे अनेक ज्ञानो की प्राप्ति और स्मरण करता है ।

८. वर्त्तमान जन्म इससे पूर्व अनेक जन्मो के कर्मों के अनुसार होता है, केवल पूर्वजन्म मात्र से नही । इसी भान्ति भविष्यत् जन्म भी वर्तमान तथा पूर्व जन्मो के कर्मों के अनुसार मिलेगा ।

विशेष—ये टिप्पणियाँ ऋषिदयानन्द के मन्तव्य के अनुसार है, स्वतत्र नही ।

*

क्या विदेश-यात्रा पाप है ?

आचार और अनाचार
भक्ष्य-अभक्ष्य विवेचन

●

सत्यार्थप्रकाश के दशम समुल्लास
के आधार पर

●

पण्डिता पवित्रादेवी "विद्याविभूषिता"

●

पौराणिक मतावलम्बियो ने चूल्हे-चौके, छूआ-छूत और जाति-पाँति के भेद तक ही समस्त धर्म-कर्म को केन्द्रित कर दिया। इसी ने जाति को कूप-मण्डूक बना दिया, जिसका परिणाम गत एक सहस्र वर्ष की दासता के रूप मे देश को भोगना पडा। ऋषि ने इस समुल्लास मे आचार क्या है और अनाचार क्या है तथा भक्ष्य और अभक्ष्य क्या है—इस विषय का मार्मिक विवेचन किया है। प्रसग से क्या विदेश-यात्रा पाप है, मांस भक्षण निषिद्ध है या नही भारत की पराधीनता का कारण क्या है और गोरक्षा के महत्त्व पर भी सक्षिप्त चर्चा आई है। विदुषी लेखिका ने इन्ही विषयो को प्रस्तुत लेख मे उपस्थित किया है।

—सम्पादक

दस

धर्म के दो अग हैं—विचार और आचार। विचार का सम्बन्ध बुद्धि के साथ है और आचार का सम्बन्ध जीवन के साथ। ईश्वर का स्वरूप, सृष्टि की उत्पत्ति और मोक्ष की प्राप्ति आदि विषयो का विवेचन जहाँ विचार-कोटि मे आता है वहाँ वैयक्तिक और सामाजिक जीवन मे मनुष्य को कैसे बर्ताव करना चाहिये यह आचार कहलाएगा। बहुत बार 'आचारः परमो धर्मः' या 'आचार. प्रथमो धर्म.' कहकर आचार को धर्म का मुख्य अग बताया गया है। आचार धर्म का मुख्य अग इसलिए है कि जहाँ तक विचार का सम्बन्ध है, उसमे मत भेद की सम्भावना हो सकती है, परन्तु जहाँ तक आचार का सम्बन्ध है, उसमें मत-भेद की सम्भावना नहीं है। यही कारण है कि भारतीय परम्परा मे विचार-भेद को कभी अक्षम्य नहीं माना गया, किन्तु आचार-भेद को सदा घृणा की दृष्टि से देखा गया। विचार-सम्बन्धी सहिष्णुता और आचार सम्बन्धी असहिष्णुता जैसे भारतीय संस्कृति के अंग ही बन गए।

धर्म आचार-प्रधान है

मनुस्मृति में "धृतिः क्षमा दमोऽस्तेय शौचमिन्द्रियनिग्रहः। धीर्विद्या-सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्।" कहकर जो धर्म के दस लक्षण बताए गये हैं उनका सम्बन्ध भी जितना आचार के साथ है, उतना विचार के साथ नहीं। योग दर्शन में "शौचसंतोपतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि

नियमाः"—और "तत्राहिंसासत्यास्तेय ब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः" कह कर जो यम और नियमों की परिभाषा की गई है और जो यम और नियम मनुष्य के वैयक्तिक और सामाजिक जीवन की उन्नति के मूल कारण हैं, उनका भी आचार के साथ ही सम्बन्ध है।

आचार एक व्यापक शब्द है। आचार्य शब्द भी आचार से ही बनता है: "आचारम् ग्राहयति इति आचार्यः"—का अर्थ यही है कि आचार्य का मुख्य कर्त्तव्य अपने शिष्य को आचारवान् बनाना है। केवल पुस्तकस्थ विद्या पढ़ाने वाले या परीक्षाएँ पास कराने वाले शिक्षक को आचार्य नहीं कह सकते। भारतीय सस्कृति मे आचार्य का महत्त्व इसीलिये है कि वह अपने जीवन के उदाहरण से अपने शिष्य को सदाचार की प्रेरणा देता है। मनुष्य कैसे सोता-जागता है, कैसे खाता-पीता है, कैसे उठता-बैठता है, कैसे बात-चीत करता है—इन सब क्रियाओं से मनुष्य का आचार प्रकट होता है। दैनन्दिन जीवन की प्रत्येक क्रिया से प्रकट होने वाले आचार को सुधारना ही आचार्य का कर्त्तव्य है।

मानव जीवन के विकास के लिए सोलह संस्कारों के रूप मे जो सोलह सीढियाँ बताई गई हैं और ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास इन चार आश्रमो का वर्णन किया गया है वह भी धर्म के आचार-प्रधान होने की ओर ही संकेत है। जिस-जिस कर्म से व्यक्ति, समाज, राष्ट्र जगत का उपकार हो वह मनुष्य का कर्तव्य कर्म है और उसी को धर्म या आचार कहना चाहिये और जो इससे विपरीत कर्म हैं उसको अधर्म या अनाचार कहना चाहिये। जो सत्यवादी धर्मात्मा और परोपकारी लोग हैं सदा उनका संग करना और उनके आचरण के अनुसार अपने आचरण को ढालना सदाचार या श्रेष्ठाचार कहलाएगा और इसके विपरीत आचरण दुराचरण कहलाएगा।

विदेश यात्रा पाप नहीं

आचरण की इतनी व्यापक परिभाषा होने पर भी हिन्दू-समाज में चिर-काल तक समस्त धर्म-कर्म केवल चूल्हे-चौके तक ही व्याप्त रहा और किसी के हाथ का छूआ हुआ भोजन न करने मे ही आचार की पराकाष्ठा समझी जाने

लगी। इसी मनोवृत्ति के कारण विदेश यात्रा को भी सबसे बड़ा अनाचार या पाप समझा जाने लगा परन्तु क्या विदेश यात्रा करने से आचार नष्ट हो जाता है ? अब से कुछ दशाब्दियो पहले तक लोगो मे यह मिथ्या धारणा बनी रही है कि विदेश यात्रा करने से विधर्मियो और म्लेच्छों से सम्पर्क होता है और उस सम्पर्क के कारण आर्यों का आचार नष्ट हो जाता है इसलिए विदेश यात्रा नहीं करनी चाहिए। और तो और, अंग्रेजी राज्य के प्रारम्भिक काल में कतिपय ऐसे महापुरुषो का जाति से बहिष्कार तक किया, जिन्होने समाज के विरोध के बावजूद उस समय विदेश यात्रा करने का साहस दिखाया था। छूत-छात और जात-पांत मे आपाद मस्तक मग्न समाज मे आये दिन ऐसी घटनाएँ होती रहती थीं। बिरादरियों का मुख्य काम केवल यही हो गया था कि अमुक व्यक्ति ने अमुक के हाथ का छुआ हुआ भोजन कर लिया या पानी पी लिया या अमुक व्यक्ति किसी समुद्र पार देश की यात्रा कर आया है इसलिये उसका बिरादरी में हुक्का-पानी बन्द कर दिया जाये और उसको जाति से बहिष्कृत कर दिया जाये। आजकल तो विदेश यात्रा ऐसा फैशन बन गया है कि वह एक बीमारी की सीमा तक पहुँच गया है इसलिये शायद आज की पीढ़ी उस युग की कल्पना न कर सके, जब केवल विदेश यात्रा करने वाले व्यक्ति का ही नही, किन्तु उस व्यक्ति से कुछ भी सम्पर्क रखने वाले अन्य सब व्यक्तियो का भी बहिष्कार कर दिया जाता था। परन्तु आज भी ऐसे अनेक वृद्ध जन विद्यमान हैं, जिन्हे अपनी जवानी के दिनों मे समाज-सुधार के किसी भी काम के लिए जाति-बहिष्कार का दण्ड भोगना पड़ा था।

क्या विदेश यात्रा पाप है ? क्या हमारे पूर्वज विदेश यात्रा को पाप समझते थे ? इतिहास इससे सर्वथा उलटी बात कहता है। धृतराष्ट्र का विवाह गान्धार देश की राजकन्या गान्धारी से हुआ था। अर्जुन का विवाह पाताल देश (अमेरिका) के राजा की कन्या उलोपी से हुआ था। श्रीकृष्ण तथा अर्जुन अश्वतरी अर्थात् अग्नियान नौका मे बैठकर पाताल देश गये थे और वहाँ से उद्दालक ऋषि को युधिष्ठिर के यज्ञ के निमित्त लेकर आये थे। जब महाराज युधिष्ठिर ने राजसूय यज्ञ किया था तब अनेक देशों के राजाओं को निमन्त्रण देने के लिए भीम, अर्जुन, नकुल और सहदेव चारो दिशाओं मे गये

थे। अगर वे विदेश यात्रा मे दोष मानते होते तो ऐसा कभी न करते। प्रत्युत उस समय के आर्य लोग अपने राजकार्य, व्यापार और भ्रमण आदि के लिए देश-देशान्तर और द्वीप-द्वीपान्तर मे घूमने के अभ्यस्त थे।

भारतवर्ष की विगत एक सहस्त्र वर्षों की पराधीनता का मुख्य कारण ही यह था कि यहाँ के लोग बाह्य संसार से आँखें बन्द करके, कूप-मण्डूक बनकर, अपने कुल, जाति कबीले, सरदार या राजा के गुणगान मे ही मस्त रह कर जीवन की इति कर्तव्यता समझने लगे थे।

भारतवर्ष के निवासियों मे विद्या, बल बुद्धि और पराक्रम की कभी कमी नहीं रही, परन्तु छुआ-छूत स्पर्श मात्र से धर्म नष्ट होने की शका और कूप-मण्डूकता ने देश को अध:पतन के ऐसे गर्त मे गिरा दिया कि वह एक सहस्त्र वर्ष तक उस गर्त से निकल नही सका।

इतिहास की शिक्षा

कोई भी इतिहासकार पूछ सकता है कि जब बाबर के पास तोप थी तब राणा सांगा के पास तोप क्यों नहीं थी। अत्यन्त पराक्रमी होते हुए भी राणा सांगा को पराजय का मुँह इसीलिये तो देखना पड़ा कि उसकें सेना के तीर और तलवार बाबर की तोपो के गोलों का सामना नहीं कर सके। जब संसार में एक बार तोप का आविष्कार हो गया तब वह यदि बाबर को सुलभ हो सकती थीं तो राणा सांगा को भी सुलभ हो सकती थीं परन्तु इन अप्रतिम शूरवीर राजपूत योद्धाओ की कूपमण्डूकता ही पराजय का सदा कारण रही।

आश्चर्य की बात तो यह है कि जो लोग मांसभक्षण, मद्यपान और वेश्यागमन तक में पाप नहीं समझते वे देश-देशान्तर के उत्तम पुरुषों के साथ समागम द्वारा ज्ञान-विज्ञान की उन्नति को आचार-भ्रष्टता और अधर्म मानते रहे। इस प्रकार की मिथ्या धारणा ही भारत के अध पतन का इतिहास है—इसी मनोवृत्ति का यह परिणाम है कि जन्म जाति के अभिमानो से ग्रस्त अनेक ऐसे दम्भी लोग आज भी मिल जायेंगे जो छाती ठोक कर यह कहते गर्व अनुभव करेंगे "बाबू जी हमने चोरी की, डाका डाला, और संसार का कोई ऐसा पाप नही छोडा जो न किया हो, परन्तु आज तक

अपना धर्म हाथ से नहीं जाने दिया, क्योंकि हमने आज तक कभी किसी दूसरे के हाथ का छुआ भोजन नहीं किया।" क्या सारा धर्म चूल्हे-चौके तक ही सीमित है? इससे बढ़कर मूर्खता की बात और क्या हो सकती है। ऋषि ने दर्द भरे वाक्यों में लिखा है—"क्या सब बुद्धिमानों ने यह निश्चय नहीं किया है कि राजपुरुषों में युद्ध समय में भी चौका लगा कर रसोई बना कर खाना अवश्य पराजय का हेतु है? किन्तु क्षत्रिय लोगों का युद्ध मे एक हाथ से रोटी खाते, जल पीते जाना और दूसरे हाथ से शत्रुओं को मारते जाना, अपना विजय करना आचार है और पराजित होना अनाचार है। इसी मूढ़ता से इन लोगों ने चौका लगाते-लगाते, विरोध करते-कराते सब स्वातन्त्र्य, आनन्द, धन, राज्य, विद्या और पुरुषार्थ पर चौका लगा दिया और अब भी हाथ पर हाथ धरे बैठे है......जानो सब आर्यावर्त देश भर में चौका लगा कर नष्ट कर दिया है।"

भोजन के साथ पाकशाला की सफाई तो आवश्यक है परन्तु छुआ-छूत का धर्म से कोई सम्बन्ध नही। जिन बातों को शास्त्रकारों में धर्म बताया है उनका पालन करना स्वदेश मे भी आवश्यक है और विदेश मे भी यदि कोई व्यक्ति वैसा ही आचरण करता है तो वह उतना ही ग्राह्य है जैसे कोई अपना स्वदेश-बन्धु या जाति बन्धु। विदेश यात्रा मे कोई पाप नहीं, प्रत्युत व्यापार-वाणिज्य और अन्तर्राष्ट्रीय सौहार्द तथा विश्व के घटनाचक्र मे परिचित रहने के लिये विदेश यात्रा आवश्यक है।

मांस-भक्षण निषेध

परन्तु एक बात ध्यान देने की है कि विदेश जाने पर भी मांस-भक्षण और मद्यपान आदि व्यसनों से दूर रहना चाहिये। विदेशियो मे इन दोनों बुराइयो को बुराई समझने की प्रवृत्ति प्राय नही पाई जाती। इसलिये उनके संग से दुर्बल सकल्प वालों को इन कुलक्षणों के लगने की सभावना हो सकती है। परन्तु इन दुर्गुणों से विदेश मे जाकर बचना जितना आवश्यक है, उतना ही आवश्यक स्वदेश मे भी है। आजकल भारत मे भी माँस भक्षण और मद्य-पान के प्रति जैसी रुचि बढ़ती जा रही हैं वह सर्वथा अनर्थकारी है। इन दुर्व्यसनो के प्रसार मे पाश्चात्य शिक्षा बहुत बड़ा कारण है। मनुस्मृति ने

"वर्जयेन् मधुमांसंच" कह कर बुद्धि का नाश करने वाले मदकारी द्रव्य का और मांस का सेवन स्पष्ट रूप से निषिद्ध बताया है।

प्राणि-शास्त्र की दृष्टि से इस सृष्टि मे मांसाहारियो की शरीर-रचना से वनस्पति-भोजियो की शरीर-रचना बिल्कुल पृथक् है। परमात्मा ने शेर, व्याघ्र आदि हिंस्र पशुओं को स्वभाव से ही मांसाहारी बनाया है। उनको शिकार करने मे समर्थ बड़े-बड़े नाखून और नुकीले दाँत दिये हैं। मांसाहारी प्राणियों का आमाशय और अन्तड़ियाँ भी इस ढग की बनाई गई हैं कि वे मांस को सुगमता से पचा सकें। जो वनस्पति-भोजी प्राणी है उनके दाँत, नाखून, आमाशय और अंतड़ियाँ मांसाहारी प्राणियो से भिन्न हैं। शरीर रचना की इस दृष्टि से मानव के दाँत, नाखून, आमाशय तथा अंतड़ियाँ वनस्पति-भोजी प्राणियो से मिलती-जुलती हैं, मांसाहारी प्राणियों से नहीं। प्रकृति मे हम नित्य देखते हैं कि जो माँसाहारी जीव हैं वे कभी शाक-पात नही खाएँगे और जो वनस्पति-भोजी प्राणी हैं वे कभी मांस नही खाएँगे। उनकी शरीर-रचना की यही माँग है। परन्तु मनुष्य ऐसा विचित्र प्राणी है जिसने अपने शरीर की रचना वनस्पति भोजी प्राणियो के अनुकूल होने पर भी, मनुष्य के लिये सर्वथा अस्वाभाविक मांसाहार, को प्रश्रय दिया है। मानव शरीर मे नित्य नई व्याधियो का बहुत बडा कारण मांसादि अभक्ष्य पदार्थो का सेवन है। अल्पायु मे लगातार बढती मृत्यु सख्या का भी दोष इसी को दिया जा सकता है।

पुरानी कहावत है कि "जैसा खावे अन्न, वैसा बने मन।' यदि मन को शुद्ध और सात्विक बनाना है, जो कि धर्म के पथ पर अग्रसर होने वाले मनुष्य के लिये पहली सीढ़ी है, तो उसे अपने मन को शुद्ध रखने लिए सबसे पहले भोजन पर नियंत्रण करना होगा। तामसिक पदार्थों के खाने से मनुष्य के अन्दर तामसिक वृत्तियाँ पैदा होंगी। तामसिक वृत्तियाँ पाप की ओर ले जाएँगी। और सात्विक वृत्तियाँ धर्म की ओर। मनुष्य को पाप की ओर बढ़ने का प्रयत्न करना चाहिये यह कहने की हिमाकत बुरे से बुरा कूढ़मग्ज व्यक्ति भी नहीं करेगा। संसार के सब समझदार लोग धर्म के पथ पर बढ़ने का प्रयत्न करने का ही उपदेश देंगे। यदि धार्मिक जीवन अभीष्ट है तो मन की सात्विकता अनिवार्य है। और जहां मन को सात्विक बनाने का प्रश्न आया वहाँ कदापि

मासादि तामसिक आहार के सेवन का समर्थन नही किया जा सकता।

भारतीयों की विशेषता

मांसादि अभक्ष्य पदार्थो के सेवन से मनुष्य के श्वास तथा त्वचा तक से कितनी दुर्गन्ध आने लगती है। इसके प्रमाणस्वरूप हम यहाँ प्रसिद्ध प्राकृतिक चिकित्सक श्री विट्ठलदास मोदी की "यूरोप यात्रा" नामक पुस्तक से एक उद्धरण दे रहे हैं। श्री मोदी फ्रांस मे जब खेलर-दम्पती से मिले तब श्री खेलर ने उनसे कहा कि "हम दोनो भारत को संसार मे सबसे अच्छा देश मानते हैं। हम भारत के भक्त हैं और हमें भारतीय बहुत प्यारे है।"

"क्यो, क्या आप कभी भारत हो आये हैं ?

"जी हाँ, पिछले वर्ष हम दोनो बम्बई मे होने वाले निरामिष भोजी संघ के विश्व-अधिवेशन के सिलसिले मे भारत-यात्रा पर गए थे। यात्रा से पूर्व हमने भारत जाने वाले यूरोपीय यात्रियो के लिये अग्रेजी में प्रकाशित कुछ साहित्य पढ़ा। पढ़कर हमारी धारणा यह बनी कि हम एक गरम और जंगली देश मे जा रहे हैं, जहाँ गन्दे और असभ्य लोग रहते है। पर सुनिये, हम दुनिया भर मे घूम चुके हैं और हम यह दावे से कह सकते हैं कि भारतीय सब से अधिक साफ होते है। आप चौंकते है। हमारा मतलब सड़को की सफाई से नहीं। हम तो यह कहते है कि उनके कपड़े भले ही गन्दे हो, किन्तु उनके शरीर मे दुर्गन्ध नहीं आती। वे अपनी त्वचा पर सुगन्धित पाउडर आदि कृत्रिम चीजे लपेट कर अपनी गन्दगी को छिपा कर साफ कहलाने का प्रयत्न नहीं करते। हम लोग रेल मे बम्बई से दिल्ली जा रहे थे, सर्दी के कारण डिब्बे की सब खिड़कियाँ बन्द कर दी गई थी और हमारे डिब्बे में पाँच भारतीय और थे। उनकी श्वासवायु इतनी निर्गन्ध थी कि सारी रात हम लोग सोये और सुबह तक भी डिब्बे मे दुर्गन्ध नहीं थी। हम अपने अनुभव के आधार पर बताते हैं कि यदि भारतीयो की जगह पाँच माँस भक्षी यूरोपियन व्यक्ति उस डिब्बे में होते तो दो घंटे के अन्दर-अन्दर पूरा डिब्बा असह्य बदबू से भर जाता।" ('यूरोप यात्रा' पृष्ठ १२४)

विदेशी शासन का कारण—आपस की फूट

बहुत से लोग यह समझते हैं कि विदेशियों ने हम पर शासन इसीलिये किया। क्योंकि वे मद्य-मांसादि का सेवन करने के कारण हमसे अधिक शक्ति-

शाली थे। परन्तु ऋषि ने इस भ्रम का निवारण करते हुए स्पष्ट लिखा है—"आर्यावर्त मे विदेशियों का राज्य होने का कारण आपस की फूट, मतभेद, ब्रह्मचर्य का सेवन न करना, विद्या न पढ़ना, न पढ़ाना, बाल्यावस्था मे विवाह, विषयाशक्ति, मिथ्याभाषणादि कुलक्षण, वेद विद्या का अप्रचार आदि कुकर्म हैं। जब आपस में भाई-भाई लड़ते हैं तभी तीसरा विदेशी आकर पच बन बैठता है। क्या तुम लोग महाभारत की बातें जो पाँच सहस्र वर्ष के पहले हुई थीं उनको भी भूल गए। देखो, महाभारत युद्ध मे सब लोग लड़ाई मे सवारियो पर खाते-पीते थे। आपस की फूट से कौरव पाण्डव और यादवो का सत्यानाश हो गया सो तो हो गया, परन्तु अब तक भी वही रोग पीछे लगा है। न जाने यह भयंकर राक्षस कभी छूटेगा या आर्यों को सब सुखों को छुड़ाकर दुःखसागर में डुबा मारेगा। उसी दुष्ट दुर्योधन, गोत्र हत्यारे, स्वदेश विनाशक, नीच के दुष्ट मार्ग मे आर्य लोग अब तक भी चलकर दुःख बढ़ा रहे हैं। परमेश्वर कृपा करे कि यह राज रोग हम आर्यो मे से नष्ट हो जावे।"

गोरक्षा आवश्यक

इसके पश्चात् गाय आदि दुधारू पशुओं की उपयोगिता का वर्णन करते हुए ऋषि ने लिखा है—"जब आर्यो का राज्य था तब ये गाय आदि महोपकारक पशु नहीं मारे जाते थे। तभी आर्यावर्त वा अन्य भूगोल देशो मे बड़े आनन्द मे मनुष्यादि प्राणी वर्तते थे। क्योंकि गाय, बैल आदि की बहुताई होने से दूध घी अन्न रस पुष्कल प्राप्त होते थे। जब से विदेशी माँसाहारी इस देश मे आके गौ आदि पशुओ के मारने वाले मद्यपानी राज्याधिकारी हुए हैं तब से आर्यो के दुःख की बढ़ती होती जाती है।" गोरक्षा के लिये ऋषि कितने आतुर थे यह इसी से समझा जा सकता है कि गोरक्षा के निमित्त सबसे पहला आन्दोलन इस देश मे ऋषि दयानन्द ने ही किया था। उन्होने अंग्रेजी राज्य मे गोवध बन्द करवाने के लिये लाखो आदमियो से हस्ताक्षर करवा के एक मेमोरेण्डम (स्मरण-पत्र) महारानी विक्टोरिया के पास पहुँचाया था। इसके अतिरिक्त गौ की उपयोगिता पर पूरी तरह प्रकाश डालने के लिये उन्होंने इस विषय पर "गो करुणानिधि" नाम से एक पृथक् पुस्तक भी लिखी थी। परन्तु कितने दुःख की बात है कि भारत के स्वाधीन हो जाने के बाद भी

गोरक्षा की ओर पर्याप्त ध्यान नहीं दिया जा रहा और अद्यापि गोवध पर पूर्णत. प्रतिबन्ध नहीं लगाया गया।

भक्ष्य क्या अभक्ष्य क्या ?

अन्त मे गुरु-शिष्य, पति-पत्नी, मित्र-मित्र और अन्य किसी के भी परस्पर उच्छिष्ट (जूठा) खाने का निषेध करते हुए और भोजन स्थान की सफाई का महत्त्व बताते हुए ऋषि ने भक्ष्याभक्ष्य विषय का समारोप करते हुए लिखा है—"जितना हिंसा और चोरी, विश्वासघात, छलकपट आदि से पदार्थों को प्राप्त होकर भोग करना है वह अभक्ष्य और अहिंसा धर्मादि कर्मों से प्राप्त होकर भोजनादि करना भक्ष्य है, जिन पदार्थों से स्वास्थ्य, रोगनाश, बुद्धि और बल पराक्रम की वृद्धि और आयु-वृद्धि होवे उन पदार्थों का यथायोग्य पाक करके, यथोचित समय पर, मिताहार भोजन करना सब भक्ष्य कहाता है, इससे अन्यथा अभक्ष्य।

अमर सत्यार्थ

युगो से सुप्त थी धरती अंधेरा घोर छाया था।
निराशा की घनी चादर ने सब कुछ ही मिटाया था॥
प्रबल पाखंड की लहरें, मनुज का मन लुभाती थी।
मतो की मोह माया मे सदा चक्कर लगाती थीं॥

विकल थे, त्रस्त नर-नारी सुखद सौभाग्य सोया था।
निरख कर देश की हालत ऋषि का मन भी रोया था॥
बजाया धर्म का डंका, गुंजायी वेद की वाणी।
नया संदेश पाकर के विहंसते थे सभी प्राणी॥

नयी जब राह देखी तो नया सौभाग्य जागा था।
उगा जब वेद का रवि तो अंधेरा दूर भागा था॥
उठाया सत्य का झंडा, अंधेरा डगमगाया था।
अमर "सत्यार्थ" ज्योति से जगत् जगमगाया था॥

—चन्द्रमोहन शास्त्री

हमारा प्रिय

डा० सूर्यदेव शर्मा साहित्यालंकार एम० ए०

(१)

हमारे गुरु का आशीर्वाद; हमारे ऋषि का अमर विधान।
मिटा कर जग का विषम विषाद; करेगा वही विश्व कल्यान॥
इष्ट फल देगा नित्य नवीन; कल्पपादप का पुण्याभास।
धरा का पुण्य अमर वरदान; हमारा प्रिय सत्यार्थप्रकाश॥

(२)

निगम का, आगम का अवतार; भव्य भावो का भुवि भंडार।
प्रेम के पय का पारावार, ज्ञान का, गुण का गम्यागार॥
चमकते जिसमे रत्न अनेक; नित्य प्रति पाते विविध विकास।
सत्य का सागर बस वह एक; हमारा प्रिय सत्यार्थप्रकाश॥

(३)

वही है दिव्य तेज तिग्मांशु; तोडता तमस्-तोम-प्रातान।
वही है सीधा सौम्य सुधांशु, कराता अमृतपय का पान॥
वही है पावस-पुण्य-पयोद; हटाता अघ निदाघ संत्रास।
वही बुध जन का बुद्धि विनोद; हमारा प्रिय सत्यार्थप्रकाश॥

(४)

विविध पंथो का तामस-तोम; भराथा भू पर भ्रम भरपूर।
अखिल आच्छादित था वरव्योम; न कर सकता था कोई दूर॥
गगन मे हुआ ज्ञान-विस्फोट; किया अज्ञान अन्ध का ह्रास।
असत् पर मारी भारी चोट; हमारा प्रिय सत्यार्थप्रकाश॥

(५)

किया द्रुत खड-खंड पाखड; चला कर तेज तर्क का तीर।
आक्रमण हुआ प्रभूत प्रचड, दम्भगढ गिरा सहित प्राचीर॥
विलखते हैं मतवादी आज; करें किस की कैसे अब आश?
असत् पर गिरा गर्जकर गाज; हमारा प्रिय सत्यार्थप्रकाश॥

(६)

अनिल का अमित अजस्र प्रवाह; बाँध सकता है जग मे कौन?
अग्नि का प्रवल प्रचड प्रदाह; साध सकता है जग मे कौन?
"सूर्य" का नभ मे प्रखर प्रतप्त; रोक सकता है कौन प्रकाश?
वही "आर्योदय" करे सशक्त; हमारा प्रिय सत्यार्थप्रकाश॥

—"सूर्य"

सत्यार्थ-प्रकाश

ग्रन्थ सत्यार्थप्रकाश महान्
जयति जय ऋषिवर का वरदान ॥

विश्व के ग्रन्थो का शिर-ताज—बहारो का मानो ऋतुराज
बचाई मानवता की लाज—किया है तर्को का आधान ॥१॥

दयामय आनन्दो का स्रोत, ज्ञान-गरिमा से ओतः प्रोत
मतो के सागर का दृढपोत-कर रहा जगती का कल्याण ॥२॥

स्वसंस्कृति-सरणी का पाथेय—धरातल मे ध्रुव सा ध्रुव ध्येय
विचारो का यह दुर्ग अजेय—जहाँ पर रक्षित वैदिक ज्ञान ॥३॥

ईश का सुन्दर सत्यस्वरूप-समुज्ज्वल शिक्षा का प्रारूप
अध्ययन-क्रम का नियम अनूप-गृहस्थाश्रम का वरद विधान ॥४

सुशोभित वानप्रस्थ सन्यास—राज्य-धर्मो का विमल विकास
ईश के वेदो का विन्यास—सृष्टि का सुन्दरतर आख्यान ॥५॥

अविद्या विद्या, मोक्ष-प्रचार—सुभक्ष्याभक्ष्य विदित आचार
प्रभावित जिनसे है संसार—युक्तिमय प्रामाणिक व्याख्यान ॥६

मतो के आलोचन का सार—नास्तिकी मत पर विशद विचार
ईसवी मत पर प्रबल प्रहार—यावनी मत का शल्य-निदान ॥७॥

महर्षि ने करके श्रम साकार—भरा है घट मे उदधि अपार
रत्न उल्लासो का यह हार कर रहा आलोकित उद्यान ॥८॥

महर्षि के मन्तव्यो का चित्र—अन्त मे अविकल लिखित पवित्र
धरा मे सबसे यही विचित्र—प्रशंसित है विवेक की कान ॥९॥

धर्म का धवल यही आधार—वेद के परिचय का प्राकार
इसी का करिए प्रचुर प्रचार—धरा पर हो ऋषि जय
का गान ॥१०॥

—"प्रणव" एम० ए०, शास्त्री

सत्यार्थप्रकाश

श्री पूर्णचन्द एडवोकेट

महर्षि दयानन्द के अमरग्रन्थ सत्यार्थप्रकाश के सम्बन्ध मे कुछ विचार नीचे दिए जाते हैं। ये विचार सत्यार्थप्रकाश विशेषाक की भूमिका के रूप मे समझे जाने चाहिएँ।

नाम—महर्षि ने पुस्तक का नाम सत्याथप्रकाश रक्खा है इसमे भी एक विशेषता है। इसका नाम सत्यप्रकाश भी हो सकता था परन्तु महर्षि की यह धारणा थी कि सत्य का प्रकाश वेदो द्वारा सृष्टि के आदि मे हो चुका है, सत्य का अर्थ लुप्त हो गया है या अर्थ के समझने मे भूल की जा रही है और इसलिए सत्य के अर्थ को पुन. प्रकाशित करने के लिए इस पुस्तक की रचना की। इससे उनका प्राचीनता के प्रति प्रेम और वेदो मे श्रद्धा प्रकट होती है।

पुस्तक की शैली—सत्यार्थप्रकाश ही एक ऐसी धर्म पुस्तक है जो प्रश्न और उत्तर के रूप मे लिखी गई है। इससे ऋषि का तर्क पर बल देना सिद्ध होता है। आरम्भ के दस समुल्लासो मे ऋषि ने स्वय अपने प्रतिवादी के सबन्ध मे प्रश्न किए हैं। और उनका समाधान किया है। और इसी प्रकार आखिर के चार समूल्लासो मे दूसरो के विचारो पर समीक्षा की दृष्टि से आक्षेप या प्रश्न किये है और उनका कारण भी दर्शाया है।

महर्षि दयानन्द की खंडन की शैली—शिक्षक जगत् मे और अन्य मतवालो की दृष्टि मे महर्षि की खडन। प्रधान शैली पर बहुधा आक्षेप किया जाता है। मेरी सम्मति मे महर्षि की खडन की शैली सबसे अधिक महत्व की है। महर्षि दयानन्द शिक्षक और चिकित्सक दोनो थे। वह प्राचीन वैदिक धर्म की शिक्षा देना चाहते थे और समाज सुधार की दृष्टि से समाज मे प्रचलित त्रुटियो को दूर करना चाहते थे। और इस दृष्टि से वह प्रचलित सामाजिक रोगो के सफल चिकित्सक थे। शिक्षा और चिकित्सा दोनो के लिए समीक्षा आवश्यक है और तब तक कोई चिकित्सा और समीक्षा पूर्ण नही हो सकती, जब तक शिक्षा पानेवाले की पूर्व की त्रुटियाँ दूर न करदी जाएँ और न किसी रोगी की

चिकित्सा हो सकती है जब तक उसके रोगो के कारण का निवारण न कर दिया जाए। महर्षि दयानन्द की समीक्षा की यह भी एक विशेषता थी कि वह जीवन के हर विभाग के लिए धर्म को आवश्यक मानते थे और धर्म की आवश्यकता उनकी दृष्टि मे केवल परलोक या मुक्ति से सम्बन्धित नहीं थी। इस लोक मे सफल उन्नति और जीवन के लिए वह धर्म के क्रियान्वित रूप को आवश्यक समझते थे। इसलिए उन्होने जितने मत प्रचलित है उनको एक सूत्र मे बाँधने के लिए यह सिद्ध किया कि सबसे प्राचीन तथा मौलिक वैदिक धर्म ही है और इसलिए उन्होने ये सिद्ध किया कि सब मतों मे जो अच्छी बातें हैं वह वैदिक धर्म से ली गयी है और माननीय हैं। उनमे देश और काल के प्रभाव से जो नवीन बातें शामिल हो गयी है उनका सशोधन करने के लिए महर्षि ने अनुरोध किया। महर्षि का उद्देश्य किसी मत का मिटाना नही था। सबको मिलाना था। उनका खंडन यदि इस दृष्टि से देखा जाए तो मंडन ही है।

सत्यार्थप्रकाश सर्वाङ्ग पूर्ण ग्रन्थ है। इसमे व्यक्ति-निर्माण और समाज-निर्माण के सम्बन्ध मे जितनी आवश्यक बातें हो सकती है उन सब पर विचार किया गया है। इसमे ईश्वर के नाम, काम और धाम पर विचार किया है, शिक्षा विधि पर, वर्ण और आश्रम की मर्यादा पर, चारो वर्णों पर, चारो आश्रमों पर विचार किया गया है और एक विशेष बात यह है कि राजनीति को राजधर्म के नाम से प्रतिपादित किया गया है। यह एक पुस्तक ऐसी है जो समाज-सुधार राजनीति और तत्वज्ञान सब पर प्रकाश डालती है।

●

/

सत्यार्थप्रकाश की

दार्शनिक विशेषतायें

आचार्य वैद्यनाथ शास्त्री

सत्यार्थप्रकाश के लेखक जगद्विख्यात महान् आचार्य महर्षि दयानन्द सरस्वती हैं। ऋषि साक्षात्कृद्धर्मा होते हैं। उनकी प्रत्येक बात महत्त्वपूर्ण होती है। अत सत्यार्थप्रकाश मे प्रत्येक बात तथ्य पूर्ण है और अपना विशेष महत्व रखती है। दार्शनिक दृष्टिकोण की कुछ बातें यहाँ पर लिखी जाती हैं।

सत्यार्थप्रकाश के प्रथम समुल्लास मे परमेश्वर के अनेक नामो का वर्णन है। उनमे विशेष और श्रेष्ठ नाम "ओम्" है। 'ओ३म्' नाम मे जगत् की तीनो स्थितियो का वर्णन मिल जाता है। 'ओम्' यह एक अक्षर है और समस्त जगत् उसका व्याख्यान है। परन्तु अन्य नामो के देने का प्रयोजन क्या था ? उत्तर होगा कि एक परमेश्वर की उपासना को दृढ करने के लिए ही इस समुल्लास का यह विस्तार किया गया है।

दूसरी बात सत्यार्थप्रकाश मे यह मिलती है कि परमेश्वर को प्रत्यक्ष माना गया है। जिस प्रकार जगत् के पदार्थो मे गुणो का प्रत्यक्ष इन्द्रियो को होता है द्रव्य का नही फिर भी द्रव्य का प्रत्यक्ष स्वीकार किया जाता है उसी प्रकार परमात्मा के ज्ञान-गुण और ज्ञानपूर्विका क्रिया का प्रत्यक्ष होने से परमेश्वर का भी प्रत्यक्ष है। यहाँ समझने की बात यह है कि इन्द्रियो मे गुणो का ही प्रत्यक्ष होता है, द्रव्य का नही। द्रव्य का प्रत्यक्ष आत्मा और मन से होता है। इसी प्रकार परमेश्वर का भी प्रत्यक्ष आत्मा से होता है। प्रत्यक्ष लक्षण तो ऋषि ने न्याय का दिया परन्तु उसमे रहस्य क्या है—इसको भी खोल दिया और इस विशेष बात की ओर ध्यान को आकृष्ट किया।

तीसरी बात कारण चर्चा की सत्यार्थप्रकाश मे मिलती है। महर्षि ने निमित्त, ५८ । और साधारण—ये तीन कारण स्वीकार किये हैं। वे निमित्त समवायि और असमवायि भी नवीन नैयायिको की तरह कह सकते थे। परन्तु फिर भी साधारण को अलग कार्य मानना ही पड़ता। माता-पिता पुत्र के कौन से कारण हैं ?—इस प्रश्न का उत्तर देते हुए यदि इन्हे निमित्त कारण माना जावे तो ठीक

नही क्योकि जो जिस कार्य का निमित्त कारण होता है उसका पूरा ज्ञान रखता है परन्तु माता पिता को पुत्र का पूरा ज्ञान नही है। निमित्त कारण के रूप आदि कार्य मे नही आते। परन्तु पुत्र मे कई वस्तुये माता पिता से आती है। अत: ये निमित्त कारण नही—निमित्त कारण परमात्मा है। ये उपादान कारण हो नही सकते हैं क्योकि उपादान कारण मे ही अन्त मे कार्य का लय है। मिट्टी का घडा टूट टूटकर बाद मे मिट्टी रह जाता है। पुत्र के विना के बाद वह माता पिता मे लीन नही होता है। अत: माता पिता उपादान कारण भी नही है। यदि इन्हे असमवायि कारण माना जावे तो भी ठीक नही क्योकि तन्तु मे समवेत रूप पट मे आता है उसी प्रकार पुत्र माता पिता मे समवेत गुण नही है। ऐसी स्थिति मे यही उत्तर बन सकेगा कि माता-पिता साधारण कारण हैं।

चौथी बात ध्यान देने की यह है कि सत्यार्थप्रकाश मे जीव को कही पर अणु नही लिखा गया है। जीव को परिच्छिन्न लिखा गया है। जिसका अर्थ यह है कि 'न अणु, न मध्यम और न विभु।' मध्यम परिमाण जीव हो नही सकता है क्योकि फिर तो अनित्य ठहरेगा। विभु परिमाण भी नही है क्योकि विभु तो परमेश्वर है और वह सर्वज्ञ सर्वान्तिर्यामी भी है—जीव वैसा नही है। अणु परिमाण भी जीव नही है—क्योकि अणु से भी वह सूक्ष्म है। एक अणु मे दूसरा अणु नही समा सकता है परन्तु जीव अणु मे भी रह सकता है। और एक अणु मे कई जीव रह सकते है। इसका विशेष विवेचन आर्य सिद्धान्त सागर मे हमने किया है।

पाचवी बात यह मिलती है कि परमात्मा को प्रकृति और जीव से सूक्ष्म माना गया है। प्रकृति से जीव सूक्ष्म है और जीव से भी परमेश्वर सूक्ष्म है। परमेश्वर प्रकृति और जीव दोनो मे व्यापक है। उद्योतकर आदि दार्शनिक जीव मे परमात्मा को व्यापक नही मानते हैं। वे इस प्रश्न को कि आत्मा परमात्मा का व्याप्य व्यापक सम्बन्ध है वा सयोग सम्बन्ध है। अव्याकरणीय कहकर छोड़ देते हैं। परन्तु महर्षि ने व्याप्य व्यापक सम्बन्ध माना है।

●

आर्यप्रतिनिधि सभा पंजाब के प्रकाशन विभाग का सूची-पत्र

यह सब क्यों ?
सिर दर्द, माथे पर झुर्रिया, आखो के नीचे 'काली रेखाएँ उठते बैठते नेत्रो के सामने अधेरा
क्या आपने कभी सोचा यह सब क्यो है ?
यह आखो के सम्बन्ध मे आपकी असावधानी का परिणाम है।
नाग ज्योति
आँखो को ताकत देता है नीरोग बनाता है तथा ज्योति बढाकर चशमा हटाता है।

मुरारी ब्रदर्स कमला नगर, देहली-६

दृढ़ निश्चय कीजिये
अपनी आँखो की सुन्दरता के लिये
भीमसेनी काजल
ही प्रयोग करे
यह आपकी आँखो को निरोग और उन्हे अधिक सुन्दर बनाता है
मुरारी ब्रदर्स
कमला नगर, देहली-६

मुद्रक तथा प्रकाशक श्री शिवकुमार शास्त्री द्वारा सम्राट् प्रेस, पहाड़ी धीरज देहली से छपवाकर आर्योदय कार्यालय १५ हनुमान रोड, नई दिल्ली से प्रकाशित किया

Registered NO. D. 1344

आर्योदय

साप्ताहिक १५ हनुमान रोड नई दिल्ली

दूर भाष ४०६८७

हमारे द्वारा प्रकाशित आर्य साहित्य

पुस्तक	मूल्य
सत्यार्थ प्रकाश मोटे अक्षर	१२
सत्यार्थ प्रकाश साधारण	२)
१. सांख्य दर्शन	२)
२. वैशेषिक दर्शन	३॥)
३ योग दर्शन	६)
४. न्याय दर्शन	३।)
५. वेदान्त दर्शन	४॥)
६. उपनिषद् प्रकाश	६)
७. उपदेश मजरी	२॥)
८. सस्कार विधि	१॥)
९. वैदिक मनुस्मृति	४॥)
१०. जाग-ए-मानव	१)
११. भर्तृहरि शतक	१॥)
१२ कर्त्तव्य दर्पण	१।)
१३ आर्याभिविनय	॥)
१४. सामवेद गुटका	३)
१५ ब्रह्मचर्य साधन मू०	१।)
१६. हिन्दी सस्कृत शिक्षा ,,	२।
१७. कौटिल्य अर्थशास्त्र ,,	१०)
१८. हितोपदेश (केवल भाषा)	=)
१९. पञ्चतंत्र ,, ,,	३॥)
२०. आर्य भजन पुष्पांजलि ,,	१।)
२१. विदुर नीति ,,	१॥)
२२. विद्यार्थी शिष्टाचार ,,	१॥)
२३. आदर्श वाल्मीकि रामायण	१२)
२४. बडा महाभारत भाषा ,,	१२)
२५. हम स्वस्थ कैसे रहे ,,	६)
२६ सदा जवान रहो ,,	१२)
२७. दृष्टांत सागर ,,	१०॥)
२८. वर्नियर की भारतयात्रा	४॥)
२९. भोज प्रबन्ध ,,	२।)
३०. तीन प्रमुख योग ,,	२॥)
३१. जीवन का आनन्द	४॥)
३२. बडा योगासन ,,	२॥)
३३ चाणक्य नीति मू० ,,	१=)
३४ कथा पच्चीसी मू०	१)
३५. महर्षि दयानन्द सरस्वती ,,	३)
३६. धर्मवीर हकीकत राय ,,	२॥)
३७. मेवाड गौरव गाथा ,,	२॥)
३८ हमारे स्वामी	३)
३९. व्यायाम शिक्षा	२॥)
४०. स्वाधीनता के पुजारी	३)
४१. भारत मा के सपूत	३)
४२. राष्ट्रतपस्वी महाराणाप्रताप	१॥)
४३. वीर शिवाजी मरहठा	१॥)
४४ आर्य समाज के नेता	३)
४५. महाभारत (वतर्ज राधेश्याम)	१५)
४६. मल्ल युद्ध	१।)
४७. लाठी शिक्षा	१)
४८. पाखड खंडनी	।॥)
४९. शिवाजी की नीति कथाएं	।॥)
५०. ब्रह्मचर्य अनुभव	१)
५१. योग का इतिहास	१।)
५२ स्त्रीशिक्षा (चतुर) गृहिणी)	२॥)

देहाती पुस्तक भण्डार

चावड़ी बाजार दिल्ली ६